विषय-सूची

हिन्दी-गद्य और उसका विकास

प्रारम्भिक रूप

हिन्दी साहित्य में गद्य की अपेक्षा पद्य का अधिक प्रयोग हुआ है और वह प्राचीनतम भी है। हिन्दी साहित्य की गतिविधि के काल विभाजन के अनुसार यदि हम देखें तो उसके वीर गाथा काल, भक्तिकाल और रीतिकाल नामक तीनों कालों में पद्य की रचनाएँ ही होती थीं। इनमें क्रमश. पहले काल की भाषा अवधी और दूसरे तीसरे की अवधी तथा ब्रज मिश्रित थीं। अवधी का भी धीरे धारे लोप होने लगा था और उन दिनों की सर्वमान्य भाषा ब्रज भाषा ही बन गई थी। इससे पूर्व सस्कृत, प्राकृत और अपभ्र श भाषाओ के गद्य का ही अधिक प्रचलन था और ये ही भाषाएँ भारत भू खण्ड में बोली और पढी जाने वाली भाषाएँ थीं।

गद्य की प्राचीनता

ईसा की नवीं दसवीं शती में अपभ्र श परम्परा के विशृङ्खलित हो जाने पर भारत की प्राय सारी भाषाओं के साहित्यों ने सस्कृत शैली का अनुसरण किया। हिन्दी साहित्य के पहले तीन कालों के लिए तो गद्य और भी अनुपयुक्त था। अरबी और फारसी के साहित्यों से प्रत्यक्ष सम्पर्क होने पर भी हिन्दी गद्य रचना को कोई विशेष प्रोत्साहन और दिशा निर्देश नहीं मिल सका। वास्तव में हिन्दी में गद्य का प्रचलन भारत की अन्य भाषाओं के साथ साथ इतनी देर से क्यों हुआ, यह बात अभी तक प्रयत्न करके भी नहीं जानी जा सकी।

वर्तमान हिन्दी गद्य के प्रारम्भ के लिए ईसा की उन्नीसवीं शताब्दी ही

महत्त्वपूर्ण है, यद्यपि उससे पूर्व भी गद्य के कुछ उदाहरण मिलते हैं।

अपभ्रंश गद्य

क्योंकि इससे पहले भारत की भाषा प्राकृत अपभ्रंश और ब्रज थी, अतएव हिन्दी का गद्य भी उन्हीं भाषाओं में लिखा जाना अनिवार्य था। अपभ्रंश गद्य का सबसे प्रारम्भिक रूप श्री दाक्षिण्य चिह्नोद्योतनाचार्य द्वारा लिखित (१२०० विक्रमी के लगभग) 'कुसुममाला' नामक अपभ्रंश-पुस्तक में मिलता है। परन्तु चूँकि वह लोकप्रचलित भाषा नहीं थी अतः उसका प्रचार कम ही हो सका।

यद्यपि ब्रज भाषा में भी सवत् १४०० के लगभग महात्मा गोरखनाथ ने अपनी सर्वप्रथम गद्यकृति लिखी थी, तथापि उनका गद्य इतना परिष्कृत और परिमार्जित नहीं कहा जा सकता। महात्मा

ब्रजभाषा-गद्य

गोरखनाथ जी ही ब्रज भाषा के सर्वप्रथम गद्य लेखक माने गए हैं। उनकी 'सिद्ध प्रमाण' नामक गद्य-पुस्तक सवत् १४०७ विक्रमी के लगभग मिलती है। इससे पन्द्रहवीं शताब्दी के गद्य का आभास मिलता है। इसके बाद सवत् १६०० के लगभग स्वामी वल्लभाचार्य के सुपुत्र गोस्वामी विट्ठलनाथ जी ने 'शृङ्गार-रस-मण्डन' नामक एक पुस्तक ब्रज भाषा में लिखी। फिर भक्तिमाल (१६४८) में विट्ठलनाथजी के सुपुत्र गोकुलनाथजी प्रमुख गद्य लेखक हुए। उनकी 'चौरासी वैष्णवन की वार्ता' तथा 'दो सौ वैष्णवन की वार्ता' नामक पुस्तकें ब्रज भाषा-गद्य के उल्लेख्य उदाहरण हैं।

खड़ी बोली-गद्य का सर्वप्रथम लेखक गग कवि माना जाता है। वह अकबर के दरबार में (सवत् १६४० के लगभग) रहता था। उसने ही

खड़ी बोली का प्रथम गद्य

सर्वप्रथम खड़ी बोली में 'चन्द छन्द बरनन की महिमा' नामक पुस्तक गद्य में लिखी थी। यद्यपि उसकी शैली में ब्रज भाषा की छाप अवश्य दृष्टिगत होती है तथापि उसमें खड़ी बोली का प्रारम्भिक धूमिल रूप अवश्य झलकता है। कवि गग के इस गद्यांश से उस

समय के गद्य का स्वरूप समझने में अवश्य सहायता मिलेगी—"इतना मुनि श्री पातसाह जी श्री अकबर साहि जी ने आध सेर सोना, नरसिंहदास चारन को दिया। इनके डेढ़ सेर सोना हो गया। रास बाँचना पूरन भया। आम खास बरखास हुआ।"

इसके उपरान्त मेवाड़ी कवि जटमल कृत 'गोरा बादल की कथा' हमारे समक्ष हिन्दी-गद्य के तत्कालीन स्वरूप का पूर्ण प्रतिनिधित्व स्थापित करती है। यह कृति सर्वप्रथम उन्होंने पद्य में (१६८०) लिखी थी। बाद में (१८८०) उसका गद्य में रूपान्तर हुआ। उन्हीं दिनों श्री रामप्रसाद निरंजनी तथा दौलतराम नाम के दो लेखकों ने खड़ी बोली के गद्य को परिष्कृत करने में पर्याप्त योग दिया। श्री निरंजनी का 'योग वाशिष्ट' और श्री दौलतराम का 'पद्मपुराण' तत्कालीन गद्य के ज्वलन्त उदाहरण हैं। इन दोनों लेखकों की भाषा में यद्यपि पर्याप्त अन्तर पाया जाता है तथापि इससे यह तो अवश्य पता चल जाता है कि वर्तमान हिन्दी गद्य के प्रयोग में आने से पूर्व ही गद्य की भाषा का स्थान खड़ी बोली ने ले लिया था। अतः कुछ इतिहासकारों का यह कथन सर्वथा भ्रान्तिमूलक है कि खड़ी बोली गद्य के जन्मदाता अंग्रेज थे।

आधुनिक गद्य की अवतारणा

ऐतिहासिक घटना चक्र को देखते हुए यह तो अवश्य ही मुक्तकण्ठ से स्वीकार किया जाना चाहिए कि ईसा की उन्नीसवीं शताब्दी हिन्दी गद्य के उन्नयन और प्रचलन में अपना विशेष स्थान
अंग्रेजों का आगमन रखती है। यदि हम और भी स्पष्ट रूप से कहना चाहें तो इस बात को यों भी कह सकते हैं कि उन्नीसवीं शताब्दी में ही हिन्दी में आधुनिक गद्य की पूर्ण अवतारणा हुई। भारत में अंग्रेजों का आगमन हुआ और उन्होंने साहित्य और संस्कृति के आलोक से आप्लावित अपनी नवीन शिक्षा पद्धति का भारत में प्रचलन

किया। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि अंग्रेजों ने व्यापार करने के बहाने यहाँ आकर किस प्रकार आधिपत्य जमाया, वह इतिहास के पृष्ठों में अंकित है। उन्होंने अपने शासन-कार्य को चलाने के लिए समस्त देश में बोली और समझी जाने वाली किसी एक भाषा की आवश्यकता अनुभव हुई। फलतः उन्होंने देश में भली प्रकार चलने वाली भाषा के गद्य को ही अपने शासन कार्य को चलाने और अपने धर्म के प्रचलन करने का माध्यम बनाया।

जिन दिनों भारत में अंग्रेजों का आगमन हुआ था उन दिनों देश में ब्रज भाषा, राजस्थानी और खड़ी बोली—इन भाषाओं का ही प्राधान्य था। ब्रज भाषा के अतिरिक्त उक्त दोनों भाषाओं में भी गद्य लिखा जाने लगा था। इस शताब्दी में राजस्थानी और ब्रज भाषा-गद्य की परम्पराओं का सर्वथा अन्त हो गया और खड़ी बोली-गद्य की क्रान्तिकारी परम्परा का सूत्रपात हुआ। ईस्ट इण्डिया कम्पनी के शासन-काल में भारत की साहित्यिक चेतना ने अँगड़ाई ली।

उन्नीसवीं शताब्दी के आरम्भ में भाषा को साहित्यिक रूप दिये जाने का प्रयत्न प्रारम्भ हुआ। इसी काल में मुन्शी सदासुखलाल, इन्शा अल्ला खाँ, लल्लूलाल और सदल मिश्र आदि लेखकों ने गद्य को साहित्यिक रूप देने का भारी उद्योग किया। इनमें से पहले दो लेखक तो स्वतन्त्र रूप से साहित्य सेवा में प्रवृत्त हुए थे और पिछले दोनों लेखकों ने सरकारी नियन्त्रण में रहकर कार्य किया। सन् १८०० में कलकत्ता में फोर्ट विलियम कालेज की स्थापना हुई। उसमें जॉन गिल क्राइस्ट की अध्यक्षता में उन्होंने पाठ्य पुस्तकों की रचना का काम प्रारम्भ किया। यद्यपि फोर्ट विलियम कालेज की स्थापना और उसके द्वारा किये जाने वाले पाठ्य पुस्तकों के निर्माण के कार्य से खड़ी बोली गद्य को कोई विशेष प्रोत्साहन तो न मिल सका, किन्तु हमारी भाषा के भण्डार में शब्दों के प्राचुर्य के अतिरिक्त विराम चिह्नों आदि का प्रचलन अवश्य हो गया। इसके साथ कुछ कोष तथा व्याकरण ग्रन्थों की सृष्टि भी हुई। शिक्षा सम्बन्धी अनेक

फोर्ट विलियम कालेज की स्थापना

ग्रन्थों में प्रयुक्त होने के कारण धीरे धीरे अंग्रेजी के शब्दों का प्रचलन भी गद्य में होने लगा।

राज्य विस्तार करने के साथ ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने ईसाई पादरियों द्वारा अपने धर्म का प्रचार करना भी प्रारम्भ कर दिया। इसके लिए उन्होंने अपने धर्म की शिक्षाएँ गद्य में लिखकर वितरित करनी प्रारम्भ कीं। उनके गद्य पर लल्लूलाल और सैयद इशाअल्ला खाँ की शैली का प्रभाव प्रचुर मात्रा में परिलक्षित होता है। यह काल साहित्यिक दृष्टि से चाहे कैसा भी रहा हो, परन्तु प्रचार और आन्दोलन की दृष्टि से हिन्दी के लिए गौरव का चिह्न अवश्य माना जायगा। उस समय ईसाई धर्म प्रचारकों, शिक्षण संस्थाओं और धार्मिक नेताओं ने हिन्दी के प्रचार में खूब सहयोग दिया, जिससे उसे उन्नति करने का मार्ग मिल गया। सन् १८०९ में विलियम केटे ने 'बाइबल' का एक भाग 'नये धर्म के नियम' के नाम से प्रकाशित किया और १८१८ तक पूरी बाइबल का हिन्दी में अनुवाद हो गया। इस अनुवाद की भाषा अरबी फारसी मिश्रित हिन्दी थी।

ईसाइयों द्वारा धर्म-प्रचार

अंग्रेजों के आगमन के साथ साथ भारतीय लेखकों का सम्पर्क पाश्चात्य शिक्षा, साहित्य एवं वैज्ञानिक आविष्कारों सम्बन्धी गतिविधियों से भी बढा। साहित्यिक जागृति के साथ साथ देश में विविध सामाजिक, धार्मिक और राजनीतिक विवाद उठ खड़े हुए, परन्तु इन सब क्रान्तियों के बीच भी हिन्दी गद्य का स्वरूप दिन प्रतिदिन निखरता ही गया। इन्हीं दिनों उर्दू और हिन्दी का आन्दोलन भी अत्यन्त भीषण रूप से जनता के जीवन में प्रवेश पा गया और हिन्दी गद्य के लेखकों में दो दल हो गए। उनमें एक दल तो उर्दू प्रधान भाषा का समर्थक था और दूसरा विशुद्ध हिन्दी को देश की साहित्यिक और व्यावहारिक भाषा बनाने का हामी था। इनमें पहले दल के अगुआ राजा शिवप्रसाद 'सितारे हिन्द' थे और दूसरे के विधायक थे राजा लक्ष्मणसिंह। वैसे दोनों ही लेखक हिन्दी के प्रचार के पक्षपाती थे, केवल भाषा का स्वरूप स्थिर करने में ही मतभेद था।

जब उत्तर प्रदेश में यह विवाद चल रहा था तो पंजाब में बाबू नवीनचन्द्र राय ने, जो उन दिनों वहाँ पर शिक्षा विभाग में एक उच्च अधिकारी थे, शुद्ध हिन्दी के प्रचार तथा प्रसार के लिए बड़ा प्रशंसनीय कार्य किया। उन्होंने गम्भीर विषयों पर अनेक निबन्ध लिखकर भाषा की अभिव्यंजना-शक्ति को समृद्ध किया।

जिन दिनों ये आन्दोलन चल रहे थे, उन्हीं दिनों गुजरात में स्वामी दयानन्द और बंगाल में राजा राममोहनराय जैसी विभूतियाँ प्रकाश में आईं। शिक्षा क्षेत्र के उच्च महारथियों ने भाषा के स्वरूप निर्धारण के सम्बन्ध में जो विवाद खड़ा कर दिया था, वह विवाद इन दोनों विभूतियों ने समाप्त कर दिया। ईसाई पादरियों ने हिन्दी के माध्यम से अपने धर्म के सिद्धान्तों का जो प्रचार करना प्रारम्भ कर दिया था, उससे स्वामी दयानन्द और राजा राममोहन-राय जैसी सतेज विभूतियाँ सशक हो उठीं तथा उन्होंने देश की भोली जनता को भटकने से बचाया। स्वामी दयानन्द ने आर्य समाज की स्थापना की, और राजा राममोहनराय ने ब्रह्म-समाज की नींव डाली। जन्म से क्रमश गुजराती और बंगाली होते हुए भी दोनों ने अपने अपने समाजों के सिद्धान्तों के प्रचार का साधन हिन्दी को ही बनाया और स्वामी दयानन्द ने 'सत्यार्थ प्रकाश' तथा राजा राममोहनराय ने 'वेदान्त सूत्रों का भाष्य' हिन्दी में ही लिखा। इसके अतिरिक्त स्वामी दयानन्द ने देश के समस्त आर्य समाजों को अपना काय हिन्दी में ही करने का आदेश दिया और राजा राममोहनराय ने 'बंगदूत' नामक पत्र हिन्दी में प्रकाशित किया।

स्वामी दयानन्द और राजा राममोहनराय

स्वामी दयानन्द के अनुयायी पण्डित भीमसेन शर्मा और सनातनधर्मी उपदेशक पण्डित ज्वालाप्रसाद शर्मा ने भी हिन्दी-गद्य की प्रशंसनीय सेवा की। उक्त दोनों ही सज्जन विशुद्ध हिन्दी के समर्थक थे। पण्डित श्रद्धाराम फिल्लौरी ने भी पंजाब जैसे प्रान्त में रहते हुए सनातन धर्म के सिद्धान्तों का प्रचार हिन्दी में ही किया। उन्होंने पंजाब के कोने-कोने में घूमकर हिन्दी के

पत्र में व्याख्यान दिये, जिससे हिन्दी के आन्दोलन को पर्याप्त बल मिला और वह जन-साधारण में सरलता से प्रचलित हो गई।

भारतेन्दु का उदय

जिस समय शिक्षा और धर्म के क्षेत्रों के उक्त सभी महारथी अपनी-अपनी शक्ति सामर्थ्य के अनुसार हिन्दी की सेवा में निरत थे, उस समय विशुद्ध साहित्य सेवियों का एक दल भी धीरे-धीरे तैयार हो रहा था। इस दल के नेता भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र थे। भारतेन्दु बाबू का भाषा और साहित्य दोनों पर ही गहरा प्रभाव पड़ा। उन्होंने जिस प्रकार गद्य की भाषा को परिमार्जित करके उसे अत्यन्त मधुर और स्वच्छ रूप दिया, उसी प्रकार हिन्दी साहित्य के विकास-विस्तार के लिए मार्ग भी प्रशस्त किया।

भारतेन्दु बाबू आधुनिक हिन्दी गद्य के जनक कहे जाते हैं। उन्होंने हिन्दी की उन्नति के लिए भारी काम किया था। भाषा-संस्कार की उनकी महत्ता को लोगों ने सहर्ष स्वीकार किया। इनसे

भाषा-संस्कार

पूर्व के गद्य की भाषा स्वच्छ और परिमार्जित नहीं थी। मुन्शी सदासुखलाल की भाषा पण्डिताऊपन लिये थी, लल्लूलाल की भाषा ब्रजभाषापन और सदल मिश्र की पूरबीपन। राजा शिवप्रसाद 'आम-फहम' और 'खास पसन्द' की रट लगा रहे थे तो राजा लक्ष्मणसिंह की भाषा विशुद्ध और मधुर होते हुए भी आगरा की बोलचाल (ब्रजभाषा) का पुट लिये थी। स्वामी दयानन्द और राजा राममोहनराय की भाषा में क्रमशः गुजराती और बंगालीपन की छाप स्पष्ट रूप से दृष्टिगत होती थी। भाषा का निखरा हुआ शिष्ट सामान्य रूप तो भारतेन्दु के उदय के साथ ही प्रकाशित हुआ था। उन्होंने गद्य की भाँति पद्य की भाषा का भी बहुत कुछ परिष्कार किया। पुराने शब्दों को हटाकर काव्य की भाषा का रूप स्वच्छ और सुन्दर बनाया; किन्तु फिर भी हिन्दी-साहित्य को उनके युग की सबसे बड़ी देन गद्य ही है।

भारतेन्दुजी की मण्डली में जो-जो लेखक उन दिनों तैयार हो रहे

भारतेन्दु के सहयोगी

उनमें बदरीनारायण चौधरी 'प्रेमघन', श्रीनिवासदास, सीताराम, ठाकुर जगमोहनसिंह और अम्बिकादत्त व्यास आदि के नाम विशेष परिगणनीय हैं। उक्त सभी लेखक हिन्दी की सेवा का व्रत लेकर ही काम करते थे। वस्तुतः इस मण्डली द्वारा जनता में देश-प्रेम और राष्ट्रीयता की धारा प्रबल वेग से बही। भारतेन्दु के इन सहयोगियों ने हिन्दी के लिए वह कार्य किया जो आज तक कोई संस्था भी नहीं कर सकी। वास्तव में भारतेन्दु के ये सहयोगी अपना अलग अस्तित्व नहीं रखते थे। वे सब एक संस्था के रूप में कार्य करते थे।

द्विवेदी-युग और उसके बाद

भारतेन्दुजी के बाद हिन्दी का प्रचार बड़ी तेज़ी से बढ़ा और हिन्दी गद्य का बहुमुखी विकास हुआ। नाटक, उपन्यास, कहानी तथा गद्य की अन्य सभी प्रवृत्तियों की दिशा में आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदीजी के आगमन ने नई चेतना फूँक दी। उसके युग के साहित्य ने राष्ट्रीय जागरण में भी पर्याप्त योग दिया। वैसे भारतेन्दु के समय जो राष्ट्रीयता का बीजांकुर जम चुका था, वह इस काल में पल्लवित और पुष्पित हुआ। हिन्दी की विकसित रूपरेखा को देखते हुए हम यह दृढतापूर्वक कह सकते हैं कि हिन्दी-गद्य का जो मार्ग भारतेन्दु ने उद्घाटित तथा प्रशस्त किया था, उसे द्विवेदीजी ने अपने क्रान्तिकारी विचारों तथा लेखों द्वारा और नई गति दी। उन्होंने 'सरस्वती' द्वारा अनेक लेखकों का निर्माण ही नहीं किया, प्रत्युत गद्य की विभिन्न प्रवृत्तियों के विकास के सिद्धान्त भी स्थिर किये।

विभिन्न प्रवृत्तियाँ

जिस प्रकार हिन्दी भाषा और उसकी प्रगति भारतेन्दु के काल में हुई उसी प्रकार नाटक, उपन्यास, कहानी, निबन्ध, गद्य काव्य, समालोचना आदि हिन्दी-साहित्य की विभिन्न प्रवृत्तियों का प्रारम्भ भी उस समय हो चुका था। द्विवेदीजी की क्रान्तिकारी प्रतिभा द्वारा उक्त सभी अंगों का परिष्करण और परिवर्द्धन उनके दिनों में हुआ। यही नहीं, उन्होंने सभी

दिशाओं में क्रान्तिकारी नेतृत्व किया। बीसवीं शताब्दी के आरम्भ तक न तो भाषा ही व्याकरण सम्मत तथा सुव्यवस्थित थी और न साहित्य के सब अंगों की पूर्ति का ही प्रयत्न किया गया था। 'सरस्वती' के सम्पादन काल में द्विवेदीजी ने हिन्दी प्रचार और साहित्य सर्जन में स्मरणीय प्रेरणा प्रदान की। इसी युग में समालोचना की नींव पड़ी और उसकी विविध शैलियों का विकास हुआ। साहित्यालोचन के सिद्धान्तों पर प्रकाश डालने वाले ग्रन्थों का प्रकाशन भी इसी काल में हुआ। हिन्दी पत्रकारिता के विकास में भी इस युग का विशेष स्थान है। सारांश यह है कि हिन्दी साहित्य की कोई भी धारा ऐसी नहीं बची थी जो उस समय के प्रतिभाशाली लेखकों की लेखनी का पुरस्कार पाने से सर्वथा वंचित रही हो। इसी काल में प्रेमचन्द और प्रसाद जैसे उपन्यासकार तथा कहानी-लेखक, बाबू श्यामसुन्दरदास और पद्मसिंह शर्मा जैसे विवेचक तथा गौरीशंकर हीराचन्द ओझा एवं श्री काशीप्रसाद जायसवाल जैसे महान् ऐतिहासिक भी उदित हुए थे। मनोवैज्ञानिक निबंधों का सूत्रपात भी आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने कर दिया था। इन सब विभूतियों के अतिरिक्त इस युग में जिन जिन महारथियों ने हिन्दी साहित्य भण्डार को अपनी लेखनी और प्रतिभा से अभिवृद्ध किया, स्थान की कमी के कारण उन सबका उल्लेख करना यहाँ सम्भव नहीं जान पड़ता। इसके अतिरिक्त विज्ञान तथा दर्शन आदि पर भी इस काल में अनेक ग्रन्थ लिखे गए। आज इन्हीं उन्नायकों के असीम उत्साह के फलस्वरूप हिन्दी साहित्य का प्रत्येक अंग समृद्धि की ओर अग्रसर हो रहा है। अब तो हिन्दी को राष्ट्रभाषा का गौरवमय पद मिलने के कारण उसका साहित्य और भी दिन प्रतिदिन समृद्ध हो रहा है। यही हिन्दी गद्य के प्रारम्भिक विकास और उत्थान की संक्षिप्त सी रूपरेखा है।

१ : : श्री बालकृष्ण भट्ट

मन की दृढ़ता

अनेक मानसिक शक्तियों मे दृढता भी मन का एक उत्तम धर्म और मनुष्य के प्रशसनीय गुणों मे है। परन्तु इन मानसिक शक्तियों पर कुछ लेख लिखने या उनके विचार के सम्बन्ध मे कुछ कथोपकथन करने के पहले यह प्रश्न उठता है कि इस कथोपकथन का उद्देश्य क्या है? यदि यह माना जाय कि कोई-न-कोई मानसिक गुण लोगों मे रहता ही है और जो लोग उन गुणों का पूरा आनन्द और लाभ उठाते रहे है वे उठाएँगे ही, तब आप अपने इस लेख से और क्या अधिक लाभ पहुँचा सकते हैं? किन्तु इसके विपरीत यह मान लेने मे कि जितने अच्छे गुण हैं उनके उद्दीपित करने का यही उत्तम उपाय है कि हम उन गुणों की यथोचित मीमासा कर उनसे जो-जो लाभ हैं उन्हें प्रकट कर दिखावें, तब अलबत्ता लेख आदि की आवश्यकता हो सकती है। और कुछ नहीं तो इतना ही सही कि जो लोग उन गुणों के आधार हैं उनके साथ सहानुभूति प्रकाश करने से हम ऐसे लोगों को किंचित् भी हर्ष पहुँचा सकेंगे तो हमारे लेख का कुछ कृत्य हुआ और इसी को ही ध्यान मे रख हम आगे बढते हैं।

गदहा पीटकर घोडा नहीं हो सकता। जिनमे किसी गुण का लेश नहीं है वे किसी तरह गुणशाली न हो सकेंगे, लोगों के इस

कहने को हम किसी-न-किसी अंश में सत्य मानते हैं। अधिक विद्या की वृद्धि, स्थान-स्थान में पुस्तकालय, क्लब और सभाएँ तथा अनेक उपकारी विषयों पर वक्तृता, समाचार-पत्र तथा विविध विद्या-विषयक नित्य नये मासिक पत्रों का विशेष प्रचार, यही सब उपाय हैं जिनसे आप लोगों को चाल-चलन में शुद्ध और सुचरित्र तथा मानसिक शक्तियों में आगे को बढ़े हुए कर सकते हैं। जब ये उपाय आपका प्रयोजन सिद्ध करने को किसी तरह कारगर नहीं हुए और आपके लोग भी वे ही हैं जिन पर इसका कुछ असर नहीं पहुँच सका, तो यह आशा ही करना व्यर्थ है कि यत्न और उपाय से जगत् का वह लाभ होगा जो आज तक नहीं हुआ। गदहा पीटकर घोड़ा न हो सकेगा, ऐसा मानने वालों के मत का खंडन करना हमारा तात्पर्य नहीं है, किन्तु इसके साथ ही हम यह भी मानते हैं कि बुद्धि का काम मनुष्य को सत्कर्म-सम्बन्धी शिक्षा देने से यही मालूम होता है कि यद्यपि जो बात प्रबल संस्कार के कारण या किसी दूसरे दूसरे हेतु से दैव ही ने किसी को नहीं दी, वह बात हम उसमें न उपजा सकें तो इतना तो करें कि सदुपदेश की परिणत दशा पर उसकी आँख तो खोल दें; अर्थात् उसकी अपेक्षा दस भले लोग और दस बुरे लोगों के साथ उसके चाल-चलन का मिलान कर उसकी भली या बुरी चित्त-वृत्ति का एक अन्दाजा तो उसे दे दें। उपरान्त उसे स्वयं अधिकार है चाहे वह अपनी दशा को आगे बढ़ाए अथवा अधःपतन से अपने को नीचे गिराता ही जाय, क्योंकि अब यह कहने वाला तो कोई न रहेगा कि सुधारने के लिए किसी ने कुछ यत्न नहीं किया।

अब तो बुद्धि रूपी लैम्प के द्वारा उसने अपनी पहली निविड़ अन्धकार-पूरित अथवा प्रकाश के संस्कार से संस्कृत पिछली दशाओं को देख लिया है, तो इस बात का ज्ञान तो उसे अवश्य

ही हो गया है कि हम कहाँ हैं, और वे कौन और कैसे लोग हैं, जिनसे हम कई दरजे अच्छे हैं अथवा वे कौन हैं जिनके समान हम चेष्टा करने से हो सकते हैं। और यह सब कोई छोटी बात नहीं है, क्योंकि यदि हमसे कोई पूछे कि प्रशंसा का मूल आप किसे कहेंगे तो हम यही उत्तर देंगे कि प्रशंसनीय केवल वे ही हैं जिन्होंने दीर्घ काल के अभ्यास और प्रयत्न से कुछ प्राप्त कर लिया है। यदि दैव की देन उस पर हुई और सहज ही में कोई अच्छी बात उसे प्राप्त हो गई, तो निस्सन्देह यह तो अवश्य ही कहेंगे कि वह गुणी है, पर यह न कहेंगे कि मनुष्य प्रशंसनीय है; क्योंकि जैसा हमने अभी कहा, प्रशंसनीय होने की योग्यता हम केवल असकृत चेष्टा और यत्नों ही पर निर्भर मानते हैं। ईश्वर की देन से स्वभावतः प्राप्त गुणों की अपेक्षा चाहे असकृत चेष्टा और अभ्यास द्वारा प्राप्त गुणों में वैसा तीखापन न हो, पर विचार की गम्भीरता इस प्रकार के गुण में अवश्य विशेष होगी, और यह लाभ किससे कम है, इस बात के स्पष्ट करने को हम कवित्व-शक्ति का उदाहरण देते हैं। कवियों को कविता करने की शक्ति ईश्वर-प्रदत्त होती है सही, परन्तु निरन्तर अभ्यास से जो कवित्व-शक्ति सम्पादित की जाती है वह भी कुछ कम नहीं, वरन् विचार की गम्भीरता ऐसे ही कवियों में विशेष पाई जायगी क्योंकि पहले तरह के काव्य में कवि के हृदय से अपने-आप जो निकलेगा वही रहेगा, पर दूसरे प्रकार के काव्य में खूब सोच-समझ और गढ़-गढ़ के पद रखे जायँगे। कहाँ तक तब वे पद सार-गर्भित न होंगे। मम्मट भट की कारिका से भी यह बात सम्यग् व्युत्पादित होती है:

शक्तिर्निपुणता लोकशास्त्र काव्याद्यवेक्षणात्।
काव्यज्ञ शिक्षयाभ्यास इति हेतुस्तदुद्भवे॥

पूर्व संस्कार या ईश्वर की देन मानिए तो बहुत कम लोगों का इसमें मतभेद होगा। तब इसके क्या माने ? आप कह सकते हैं कि इस बालक को आरम्भ ही से अच्छी शिक्षा दी गई है अर्थात् इसके यही माने हैं कि जिस बात की ओर झुकाव होता था वह विषय तो उसमें खराद पर चढ़े नगीने की भाँति स्वयं जगमगा रहा था। जिस बात की ओर से वह आलस्य-भाव धारण कर अरुचि प्रकट करता था वह कमी भी उसमें भली भाँति सँभाल दी गई। अन्त मे परिणाम इस सब बात का यह हुआ कि उस बालक की शिक्षा के सम्बन्ध में आप कह सकते हैं कि इसे अच्छी शिक्षा या पूर्ण शिक्षा दी गई है। अब बतलाइए, इस अच्छे या पूर्ण के क्या माने हैं ? केवल यही कि यद्यपि बहुत बातों में स्वभाव ही से वह बालक अच्छा रहा हो, परन्तु उत्तम शिक्षा के प्रभाव से उसके निर्बल अंश भी दूर कर दिये गए और हर विषय मे पूर्ण अथवा 'कालाक्षरी' वाक्य उसके लिए उपयुक्त होता है।

यह हमने केवल एक दृष्टान्त के ढंग पर दिखलाया। जं बात बालकों मे देखते हैं, कोई ऐसी वजह नहीं कि जवानों वह बात न पाई जाय अर्थात् जो बात ईश्वर की देन (Natura. Gift) से नहीं आई उसे भी अभ्यास (Culture) द्वारा बढ़ाना। भेद इतना ही है कि बालकों को इस बात की आवश्यकता है कि कोई दूसरा अपने सहारे से उन्हें ले चले। पर जवानों को भला कौन सहारा देगा, यदि अपनी मदद वे आप ही न करें। और इसी का नाम हम 'मन की दृढ़ता' रखेंगे। अब देखना चाहिए कि इस मन की दृढ़ता का असर उसी आदमी के खयाल पर किस तरह होता है।

जो लोग यह मानते हैं कि कुछ लोगों का किसी खास बात की तरफ झुकाव इत्तिफाक से है, ऐसी ही बात आ पड़ी है कि

वह उस बात को चाहने लगता है। या अच्छी तरह उस बात को समझता है। इस सबका कारण बिलकुल इत्तिफाक ही है। हमारी जान में ऐसा मानने वालों की बड़ी भूल है। आदमी की पसन्द, तबियत, मिज़ाज, खयाल, रुचि और अरुचि, इसमें छोटी-से-छोटी या बड़ी-से-बड़ी बातों पर इत्तिफाक का उतना ही असर है जितना इत्तिफाक से पेड़ में कानी-खोतरी पत्तियाँ या फूल-फल लग सकते हैं। इन्हीं बातों पर सोचने से इस प्रश्न का उत्तर मिलता है कि कैसे मानसिक दृढ़ता रहने स किसी के खयालात मे वह जोर आता है, जिसे देख या सुन लोग चमत्कृत होते हैं। जब यह माना गया कि आदमी का मन उसके खयालात के साथ ऐसा नथा है जैसे वृक्ष अपने एक-एक रगो-रेशे से नथा हुआ है, तो यह सिद्ध हुआ कि किसी मनुष्य के खयालात उसके मन और जबान पर वैसे ही हरे-भरे मालूम होंगे जैसे अपने स्थान मे जमा हुआ पेड़ हरा-भरा मालूम होता है। क्या यह कभी सम्भव है कि पेड को आप उखाड डालें? यह भी संभव नहीं है कि किसी के अनोखे खयालात उसके मन को छोड़ कहीं और ठौर तरो-ताजगी को पा सकें और इसी को हम मानसिक दृढ़ता कहेंगे, जिसका अर्थ अनोखापन भी कहा जाय तो अनुचित नहीं है।

यहाँ तक हमने इस मानसिक दृढ़ता का एक लक्षण लिखा। इस दृढ़ता को हम हठ न कहेंगे। निःसन्देह हठ की मजबूती इसमें है पर एक तरह का अनोखापन जो इस दृढ़ता में पाया जाता है, हठ या दुराग्रह के दोष या सम्पर्क से भी दूर हटा हुआ है। क्योंकि हठ का शब्द सुननेवाला किसी के बारे में तभी प्रयोग करता है जब उसकी मजबूती का तो वह कायल है पर बात उसकी अप्रिय और अग्राह्य है जिसको आप मानसिक दृढ़ता के साथ लगा ही नहीं सकते, क्योंकि यदि सुनने वालों को ग्राह्य-

अग्राह्य, प्रिय-अप्रिय तय करने की फ़ुरसत मिली तो बोलने वाले की मानसिक शक्ति की प्रशंसा में हम 'दृढ़' का प्रयोग करते होंगे। न हीं मानसिक दृढ़ता का मुख्य लक्षण या गुण यह है कि वक्ता सुनने वाले का मन अपनी मुट्ठी में कर ले।

इस दृढ़ मन का दूसरे के ऊपर क्या और कैसे असर होता है इसे हमने प्रकट कर दिखलाया। अब पाठकजन इससे यह न समझ लें कि केवल अति दृढ़ मन वालों ही का असर दूसरे पर होता है। यह हमारा तात्पर्य नहीं है। पर यह एक साधारण नियम है कि जब कभी दो चित्त आपस मे टक्कर खाएँगे तो एक-दूसरे पर कुछ-न-कुछ असर होगा ही। इसी असर को भली या बुरी सोहबत का असर कहते हैं। सोहबत का असर जरूर होता है। इसको रोकने की सामर्थ्य किसी की नहीं है। यह असम्भव है कि एक चित्त अपना असर दूसरे पर पैदा न करे या वह दूसरा भी उस असर को अपने ऊपर न आने दे, और यह एक ऐसी अनदेखी बात है जिसका रोकना या उसे कुछ बदलकर ग्रहण करना दोनों की सामर्थ्य के बाहर है। जब यह बात है तो दृढ़ मन वाले अपनी ऊँची समझ और ऊँचे खयालात से कमजोर और दुर्बल चित्त वालों को ऐसा बेकाबू कर डालेंगे जैसे बड़े-से-बड़े नशे का असर किसी को बेकाबू कर देता है। इसलिए दुर्बल चित्त वाले का दृढ़ मन वाले के साथ सम्पर्क कभी उपकारी नहीं है। इस चुपचाप असर पैदा करने की शक्ति को हम केवल आदमियों ही में नहीं वरन् जड़ पदार्थों मे भी पाते हैं। काठ पत्थर के संग्रह पर चिरकाल के उपरान्त पत्थर हो जाता है, अँगरेजी मे जिसे फॉसेल कहते हैं। दो तरह के पत्थर या दो तरह की खान या दो तरह के वृक्ष, जो आसपास होते हैं, उनका भी बहुत-कुछ असर एक-दूसरे पर होता है। हमने यह भी सुना है कि दो खान, जो आसपास होती हैं, उनमें जो खान

बड़ी या तीव्र द्रव्य की खान थी, उसने छोटे और हल्के द्रव्य वाली खान को ऐसा दबाया कि कुछ दिन के उपरान्त दोनों एक में मिल गई और दोनों एक ही द्रव्य की खान हो गई।

अब आप निश्चय कर सक्ते हैं कि एक मन का असर दूसरे पर कितना होता है, खासकर उनमें जब दोनों में एक अति दृढ और दूसरा दुर्बल मन है। अतएव दृढ मन यद्यपि उत्तम गुण है पर दूसरों पर उसका असर इतना गुणकारी नहीं मालूम होता और इस दृढ मन के साथ सहानुभूति भी हो अर्थात् हर तरह के भले-बुरे, ऊँचे-नीचे, ज्ञानी अज्ञानी सबके मन में प्रवेश करने की शक्ति भी हो, तो दृढ मन मधुकर हो प्रत्येक मन का मधु निकाल-निकाल लाभ उठाने की शक्ति बढ़ाता ही जायगा और सत्य क्या वस्तु है इसकी पहचान में समर्थ होगा।

धोखा

इन दो अक्षरों में भी न जाने कितनी शक्ति है कि इनकी लपेट से बचना यदि निरा असम्भव न हो तो भी महा कठिन तो अवश्य है। जब कि भगवान् रामचन्द्र ने मारीच राक्षस को सुवर्ण-मृग समझ लिया था तो हमारी-आपकी क्या सामर्थ्य है जो धोखा न खाएँ। वरंच ऐसी-ऐसी कथाओं से विदित होता है कि स्वयं ईश्वर भी केवल निराकार-निर्विकार ही रहने की दशा में इससे पृथक् रहता है। सो भी एक रीति से नहीं ही रहता, क्योंकि उसके मुख्य कामों में से एक काम सृष्टि का उत्पादन करना है, उसके लिए उसे अपनी माया का आश्रय लेना पड़ता है, और माया, भ्रम, छल इत्यादि धोखे ही के पर्याय हैं। इस रीति से यदि हम कहें कि ईश्वर भी धोखे से अलग नहीं है तो अयुक्त न होगा, क्योंकि ऐसी दशा में यदि वह धोखा खाता नहीं तो धोखे से काम अवश्य लेता है, जिसे दूसरे शब्दों में कह सकते हैं कि माया का प्रपंच फैलाता है व धोखे की टट्टी खड़ी करता है।

अतः सबसे पृथक् रहने वाला ईश्वर भी ऐसा नहीं है, जिसके विषय में यह कहने का स्थान हो कि वह धोखे से अलग है, *'आश्चर्योस्य वक्ता'*, *'चित्रं देवानामुद्गादनीकं'* इत्यादि कहा है,

और आश्चर्य तथा चित्रत्व को मोटी भाषा में धोखा ही कहते हैं, अथवा अवतार-धारण की दशा में उसका नाम माया-वपुधारी होता है, जिसका अर्थ है—धोखे का पुतला। मत्स्य, कच्छपादि रूपों में प्रकट होता है और शुद्ध निर्विकार कहलाने पर भी नाना प्रकार की लीला किया करता है; वह धोखे का पुतला नहीं तो क्या है? हम आदर के मारे उसे भ्रम से रहित कहते हैं, पर जिसके विषय में कोई निश्चयपूर्वक 'इदमित्थं' कह नहीं सकता, जिसका सारा भेद स्पष्ट रूप से कोई जान ही नहीं सकता, वह निर्भ्रम या भ्रमरहित क्योंकर कहा जा सकता है? शुद्ध निर्भ्रम वह कहलाता है, जिसके विषय में भ्रम का आरोप भी न हो सके; पर उसके तो अस्तित्व तक में नास्तिकों को सन्देह और आस्तिकों को अनिश्चित ज्ञान का अभाव रहता है फिर वह निर्भ्रम कैसा? और जब वही भ्रम से पूर्ण है तब उसके बनाए संसार में भ्रम अर्थात् धोखे का अभाव कहाँ?

वेदान्ती लोग जगत् को मिथ्या, भ्रम समझते हैं; यहाँ तक कि एक महात्मा ने किसी जिज्ञासु को भली भाँति समझा दिया था कि विश्व में जो-कुछ है, और जो-कुछ होता है, सब भ्रम है। किन्तु यह समझाने के कुछ ही दिन उपरान्त उनके किसी प्रिय व्यक्ति का प्राणान्त हो गया, जिसके शोक में वे फूट-फूटकर रोने लगे। इस पर शिष्य ने आश्चर्य में आकर पूछा कि आप तो सब बातों को भ्रमात्मक मानते हैं, फिर जान-बूझकर रोते क्यों हैं? इसके उत्तर में उन्होंने कहा कि रोना भी भ्रम ही है। सच है! भ्रमोत्पादक भ्रमस्वरूप भगवान के बनाये हुए भव (संसार) में जो-कुछ है भ्रम ही है। जब तक भ्रम है, तभी तक संसार है, वरंच संसार का भी स्वामी तभी तक है, फिर कुछ भी नहीं! और कौन जाने, हो तो हमें उससे कोई काम नहीं। परमेश्वर सबका भ्रम बनाए रखे, इसी में सब-कुछ है। जहाँ भ्रम

खुल गया, वहीं लाख की भलमनसी खाक में मिल जाती है। जो लोग पूरे ब्रह्मज्ञानी बनकर संसार को सचमुच माया की कल्पना मान बैठते हैं वे अपनी भ्रमात्मक बुद्धि से चाहे अपने तुच्छ जीवन को साक्षात् सर्वेश्वर मानकर सर्वथा सुखी हो जाने का धोखा खाया करें, पर संसार के किसी काम के नहीं रह जाते हैं, वरंच निरे अकर्त्ता, अभोक्ता बनने की उमंग में अकर्मण्य और *'नारि-नारि सब एक हैं, जस मेहरि तस माय'*, इत्यादि सिद्धान्तों के मारे अपना तथा दूसरों का जो अनिष्ट न कर बैठें वही थोड़ा है, क्योंकि लोक और परलोक का मजा भी धोखे ही में पड़े रहने से प्राप्त होता है। बहुत ज्ञान छाँटना सत्यानाश की जड़ है। ज्ञान की दृष्टि से देखें तो आपका शरीर मल-मूत्र, माँस-मज्जादि घृणास्पद पदार्थों का विकार-मात्र है, पर हम उसे प्रीति का पात्र समझते हैं और दर्शन-स्पर्शनादि से आनन्द-लाभ करते हैं।

हमको वास्तव में इतनी जानकारी भी नहीं है कि हमारे सिर में कितने बाल हैं, वा एक मिट्टी के गोले का सिरा कहाँ पर है; किन्तु आप हमें बड़ा भारी विज्ञ और सुलेखक समझते हैं, तथा हमारी लेखनी या जिह्वा की कारीगरी देख देखकर सुख प्राप्त करते हैं। विचारकर देखिए तो धन-जन इत्यादि पर किसी का कोई स्वत्व नहीं है, इस क्षण वे हमारे काम आ रहे हैं, क्षण ही भर के उपरान्त न जाने किसके हाथ में व किस दशा में पड़कर हमारे पक्ष में कैसे हो जायँ, और मान भी लें कि इनका वियोग कभी न होगा तो भी हमें क्या? आखिर एक दिन मरना है, और *'मूँद गई आँखें तब लाखें केहि काम की।'* पर यदि हम ऐसा समझकर सबसे सम्बन्ध तोड़ दें तो सारी पूँजी गँवाकर निरे मूर्ख कहलावें, स्त्री-पुत्रादि का प्रबन्ध न करके उनका जीवन नष्ट करने का पाप मुड़ियावें! *'ना हम काऊ के कोई

ना हमारा' का उदाहरण बनकर सब प्रकार के *सुख-सुविधा*, सुयश से वंचित रह जायँ। इतना ही नहीं, वरंच और भी सोच-कर देखिए तो किसी को कुछ भी खबर नहीं है कि मरने के पीछे जीव की क्या दशा होगी।

बहुतेरों का सिद्धान्त यह भी है कि दशा किसकी होगी, जीव तो कोई पदार्थ ही नहीं है। घड़ी के जब तक सब पुरजे दुरुस्त हैं और ठीक-ठीक लगे हुए हैं तभी तक उसमे खट-खट, टन-टन आवाज आ रही है; जहाँ उसके पुरजों का लगाव बिगड़ा, वहीं न उसकी गति है, न शब्द है। ऐसे ही शरीर का क्रम जब तक ठीक-ठीक बना हुआ है, मुख से शब्द और मन से भाव तथा इन्द्रियों से कर्म का प्राकट्य होता रहता है; जहाँ इसके क्रम मे व्यतिक्रम हुआ वहीं सब खेल बिगड़ गया, बस फिर कुछ नहीं, कैसा जीव! कैसी आत्मा! एक रीति से यह कहना झूठ भी नहीं जान पड़ता, क्योंकि जिसके अस्तित्व का कोई प्रत्यक्ष प्रमाण नहीं है उसके विषय मे अन्ततोगत्वा यों ही कहा जा सकता है। इसी प्रकार स्वर्ग-नरकादि के सुख-दुःखादि का होना भी नास्तिकों ही के मत मे नहीं, किन्तु बड़े-बड़े आस्तिकों के सिद्धान्त से भी 'अविदित सुख-दुःख निर्विशेष स्वरूप' के अतिरिक्त कुछ समझ में नहीं आता।

स्कूल मे हमने भी सारा भूगोल और खगोल पढ़ डाला है, पर नरक और वैकुण्ठ का पता कहीं नहीं पाया। किन्तु भय और लालच को छोड़ दें तो बुरे कार्मों से घृणा और सत्कर्मों में रुचि न रखकर भी तो अपना अथच पराया अनिष्ट ही करेंगे। ऐसी-ऐसी बातें सोचने से गोस्वामी तुलसीदास जी का *'गो गोचर जहँ लगि मन जाई, सो सब माया जानेहु भाई'* और श्री सूरदास जी का *'माया मोहनी मनहरन'* कहना प्रत्यक्ष तथा सच्चा जान पड़ता है। फिर हम नहीं जानते कि धोखे को लोग

क्यों बुरा समझते हैं ? धोखा खाने वाला मूर्ख और धोखा देने वाला ठग क्यों कहलाता है ? जब सब-कुछ धोखा-ही-धोखा है, और धोखे से अलग रहना ईश्वर की भी सामर्थ्य से दूर है, तथा धोखे ही के कारण संसार का चर्खा पिन्न-पिन्न चला जाता है, नहीं तो ढिच्चर-ढिच्चर होने लगे, वरच रह ही न जाय तो फिर इस शब्द का स्मरण वा श्रवण करते ही आपकी नाक-भौं क्यों सिकुड़ जाती है ? इसके उत्तर में हम तो यही कहेंगे कि साधारणतः जो धोखा खाता है वह अपना कुछ-न कुछ गँवा बैठता है, और जो धोखा देता है उसकी एक-न-एक दिन कलई खुले बिना नहीं रहती है, और हानि सहना व प्रतिष्ठा खोना दोनों बातें बुरी हैं, जो बहुधा इसके सम्बन्ध मे हो ही जाया करती हैं।

इसी से साधारण श्रेणी के लोग धोखे को अच्छा नहीं समझते, यद्यपि उससे बच नहीं सकते; क्योंकि जैसे काजल की कोठरी मे रहने वाला बेदाग नहीं रह सकता वैसे ही भ्रमात्मक भव-सागर मे रहने वाले अल्प-सामर्थी जीव का भ्रम से सर्वथा बचा रहना असम्भव है, और जो जिससे बच नहीं सकता उसका उसकी निन्दा करना नीति विरुद्ध है। पर क्या कीजिए, कच्ची खोपड़ी के मनुष्य को प्राचीन प्राज्ञगण अल्पज्ञ कह गए हैं, जिसका लक्षण ही है कि आगा पीछा सोचे बिना जो मुँह पर आए कह डालना और जो जी मे समाए कर उठना, नहीं तो कोई काम वा वस्तु वास्तव मे भली अथवा बुरी नहीं होती, केवल उसके व्यवहार का नियम बनने बिगड़ने से बनाव-बिगाड़ हो जाया करता है।

परोपकार को कोई बुरा नहीं कह सकता, पर किसी को सब-कुछ उठा दीजिए तो क्या भीख माँगकर प्रतिष्ठा, अथवा चोरी करके धर्म खोइएगा, या भूखों मरकर आत्म-हत्या के पापभागी

३ : : आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी

कवि और कविता

यह बात सिद्ध समझी गई है कि कविता अभ्यास से नहीं आती। जिसमें कविता करने का स्वाभाविक माद्दा होता है वही कविता कर सकता है। देखा गया है कि जिस विषय पर बड़े-बड़े विद्वान् अच्छी कविता नहीं कर सकते उसी पर अपढ़ और कम उम्र के लड़के कभी-कभी अच्छी कविता लिख देते हैं। इससे स्पष्ट है कि किसी-किसी में कविता लिखने की इस्तेदाद स्वाभाविक होती है, ईश्वरदत्त होती है। जो चीज ईश्वरदत्त है वह अवश्य लाभदायक होगी, वह निरर्थक नहीं हो सकती। उससे समाज को अवश्य कुछ-न-कुछ लाभ पहुँचता है।

कविता यदि यथार्थ में कविता है तो सम्भव नहीं कि उसे सुनकर सुनने वाले पर कुछ असर न हो। कविता से दुनिया में आज तक बहुत बड़े-बड़े काम हुए हैं। अच्छी कविता सुनकर कवितागत रस के अनुसार दुःख, शोक, क्रोध, करुणा, जोश आदि भाव पैदा हुए बिना नहीं रहते, और जैसा भाव पैदा होता है कार्य के रूप में फल भी वैसा ही होता है। हम लोगों में, पुराने जमाने में, भाट, चारण आदि अपनी कविता ही की बदौलत वीरों में वीरता का संचार कर देते थे। पुराणादि में कारुणिक प्रसंगों का वर्णन सुनने और 'उत्तर राम-चरित' आदि

दृश्य काव्यों का अभिनय देखने से जो अश्रुपात होने लगता है वह क्या है ? वह अच्छी कविता ही का प्रभाव है।

रोम, इंगलैंड, अरब, फारस आदि देशों मे इस बात के सैकड़ो उदाहरण मौजूद हैं कि कवियों ने असम्भव बातें सम्भव कर दिखाई हैं, जहाँ पस्तहिम्मती का दौर-दौरा था वहाँ गदर मचा दिया है। अतएव कविता एक असाधारण चीज है। परन्तु विरले ही को सत्कवि होने का सौभाग्य प्राप्त होता है। जब तक ज्ञान-वृद्धि नहीं होती—जब तक सभ्यता का जमाना नहीं आता—तभी तक कविता की विशेष उन्नति होती है, क्योंकि सभ्यता और कविता मे परस्पर-विरोध है। सभ्यता और विद्या की वृद्धि होने से कविता का असर कम हो जाता है। कविता मे कुछ-न-कुछ झूठ का अंश जरूर रहता है। असभ्य अथवा अर्द्ध-सभ्य लोगों को यह अंश कम खटकता है, शिक्षित और सभ्य लोगों को बहुत। तुलसीदास की रामायण के खास-खास स्थलों का स्त्रियों पर जितना प्रभाव पडता है, उतना पढे लिखे आदमियों पर नहीं। पुराने काव्यों को पढने से लोगों का चित्त जितना पहले आकृष्ट होता था उतना अब नहीं होता। हजारों वर्ष से कविता का क्रम जारी है। जिन प्राकृतिक बातों का वर्णन अब तक बहुत-कुछ हो चुका है, प्राय उन्हीं बातों का वर्णन जो नये कवि होते हैं वे भी उलट फेर से करते हैं, इसीसे अब कविता कम हृदयग्राहिणी होती है।

संसार मे जो बात जैसी दीख पडे कवि को वह वैसी ही वर्णन करनी चाहिए। उसके लिए किसी तरह की रोक या पाबन्दी का होना अच्छा नहीं। दबाव से कवि का जोश दब जाता है। उसके मन मे जो भाव आप-ही आप पैदा होते हैं उन्हें जब वह निडर होकर अपनी कविता मे प्रकट करता है तभी उसका पूरा-पूरा असर लोगों पर पडता है। बनावट से कविता बिगड जाती

होइएगा! यों ही किसी को सताना अच्छा नहीं कहा जाता है, पर यदि कोई संसार का अनिष्ट करता हो उसे राजा से दण्ड दिलवाइए व आप ही उसका दमन कर दीजिए तो अनेक लोगों के हित का पुण्य-लाभ होगा।

घी बड़ा पुष्टिकारक होता है, पर दो सेर पी लीजिए तो उठने-बैठने की शक्ति न रहेगी, और संखिया, सींगिया आदि प्रत्यक्ष विष हैं, किन्तु उचित रीति से शोधकर सेवन कीजिए तो बहुत से रोग-दोष दूर हो जायँगे। यही लेखा धोखे का भी है! दो-एक बार धोखा खाकर धोखेबाजों से हिकमतें सीख लो और कुछ अपनी ओर से झपकी-फुदनी जोड़कर *'उसी की जूती उसी का सिर'* कर दिखाओ तो बड़े भारी अनुभवशाली वरंच *'गुरु गुड़ ही रहा चेला शक्कर हो गया'* का जीवित उदाहरण कहलाओगे। यदि इतना न हो सके तो उसे पास न फटकने दो तो भी भविष्य के लिए हानि और कष्ट से बच जाओगे।

यों ही किसी को धोखा देना हो तो इस रीति से दो कि तुम्हारी चालबाजी कोई भाँप न सके, और तुम्हारा बलि-पशु यदि किसी कारण से तुम्हारे हथकण्डे ताड़ भी जाय तो किसी से प्रकाशित करने के काम का न रहे। फिर बस, अपनी चतुरता के मधुर फल को मूर्खों के आँसू तथा गुरु घंटालों के धन्यवाद की वर्षा के जल से धो और स्वादपूर्वक खा! इन दोनों रीतियों से धोखा बुरा नहीं है। अगले लोग कह गए हैं कि आदमी कुछ खोकर सीखता है, अर्थात् धोखा खाए बिना अक्ल नहीं आती, और बेईमानी तथा नीति-कुशलता में इतना ही भेद है कि जाहिर हो जाय तो बेईमानी कहलाती है, और छिपी रहे तो बुद्धिमानी है।

हमें आशा है कि इतना लिखने से आप धोखे का तत्त्व—यदि निरे खेत के धोखे न हों, मनुष्य हों तो—समझ गए होंगे।

पर अपनी ओर से इतना और समझा देना भी हम उचित समझते हैं कि धोखा खाकर धोखेबाज का पहचानना साधारण समझ वालों का काम है। इससे जो लोग अपनी भाषा, भोजन, भेष, भाव और भ्रातृत्व को छोड़कर आपसे भी छुड़वाया चाहते हों उनको समझे रहिए कि स्वयं धोखा खाये हुए हैं, और दूसरों को धोखा दिया चाहते हैं। इससे ऐसों से बचना परम कर्तव्य है, और जो पुरुष एवं पदार्थ अपने न हों वे देखने में चाहे जैसे सुशील और सुन्दर हों, पर विश्वास के पात्र नहीं हैं, उनसे धोखा हो जाना असम्भव नहीं है। बस, इतना स्मरण रखिएगा, तो धोखे से उत्पन्न होने वाली विपत्तियों से बचे रहिएगा, नहीं तो हमें क्या, अपनी कुमति का फल अपने ही आँसुओं से धोओ और खाओगे, क्योंकि जो हिन्दू होकर ब्रह्म-वाक्य नहीं मानता वह धोखा खाता है।

है। किसी राजा या व्यक्ति-विशेष के गुण-दोषों को देखकर कवि के मन में जो भाव उद्भूत हों उन्हें यदि वह बे-रोक-टोक प्रकट कर दे तो उसकी कविता हृदयद्रावक हुए बिना न रहे। परन्तु परतन्त्रता या पुरस्कार-प्राप्ति या और किसी तरह की रुकावट पैदा हो जाने से, यदि उसे अपने मन की बात कहने का साहस नहीं होता तो कविता का रस जरूर कम हो जाता है। इस दशा में अच्छे कवियों की भी कविता नीरस, अतएव प्रभावहीन हो जाती है। सामाजिक और राजनीतिक विषयों में कटु होने से सच कहना भी जहाँ मना है; वहाँ इन विषयों पर कविता करने वाले कवियों की उक्तियों का प्रभाव क्षीण हुए बिना नहीं रहता। कवि के लिए कोई रोक न होनी चाहिए, अथवा जिस विषय में रोक हो उस विषय पर कविता ही न लिखनी चाहिए। नदी, तालाब, वन, पर्वत, फूल, पत्ती, गरमी, सरदी आदि ही के वर्णन से उसे सन्तोष करना उचित है।

खुशामद के ज़माने में कविता की बुरी हालत होती है। जो कवि राजाओं, नवाबों या बादशाहों के आश्रय में रहते हैं, अथवा उनको खुश करने के इरादे से कविता करते हैं, उनको खुशामद करनी पड़ती है; वे अपने आश्रयदाताओं की इतनी प्रशंसा करते हैं, इतनी स्तुति करते हैं कि उनकी उक्तियाँ असलियत से दूर जा पड़ती हैं। इससे कविता को बहुत हानि पहुँचती है। विशेष करके शिक्षित और सभ्य देशों में कवि का काम प्रभावोत्पादक रीति से यथार्थ घटनाओं का वर्णन करना है, आकाश-कुसुमों के गुलदस्ते तैयार करना नहीं। अलंकार-शास्त्र के आचार्यों ने अतिशयोक्ति अलंकार जरूर माना है, परन्तु अभावोक्तियाँ भी क्या कोई अलंकार हैं? किसी कवि की बे-सिर-पैर की बातें सुनकर किस समझदार आदमी को आनन्द-प्राप्ति हो सकती है? जिस समाज के लोग अपनी झूठी प्रशंसा

सुनकर प्रसन्न होते हैं वह समाज प्रशंसनीय नहीं समझा जाता।

कारणवश अमीरों की प्रशंसा करने, अथवा किसी एक ही विषय की कविता में कवि-समुदाय के आजन्म लगे रहने से, कविता की सीमा कट-छँटकर बहुत थोड़ी रह जाती है। इस तरह की कविता उर्दू में बहुत अधिक है। यदि यह कहें कि आशिक़ाना (शृङ्गारिक) कविता के सिवा और तरह की कविता उर्दू में है ही नहीं, तो बहुत बड़ी अत्युक्ति न होगी। किसी दीवान को उठाइए, आशिक़-माशूक़ों के रंगीन रहस्यों से आप उसे आरम्भ से अन्त तक रँगा हुआ पाइएगा। इश्क़ भी यदि सच्चा हो तो कविता में कुछ असलियत आ सकती है। पर क्या कोई कह सकता है कि आशिक़ाना शेर कहने वालों का सारा रोना, कराहना, ठण्डी साँसें लेना, जीते ही अपनी क़ब्रों पर चिराग जलाना सब सच है? सब न सही, उनके प्रलापों का क्या थोड़ा-सा भी अंश सच है? फिर इस तरह की कविता सैकड़ों वर्ष से होती आ रही है। अनेक कवि हो चुके, जिन्होंने इस विषय पर न मालूम क्या-क्या लिख डाला है। इस दशा में नये कवि अपनी कविता में नयापन कैसे ला सकते हैं! वही तुक, वही छन्द, वही शब्द, वही उपमा, वही रूपक, इस पर भी लोग पुरानी लकीर को बराबर पीटते जाते हैं। कवित्त, सवैये, घनाक्षरी, दोहे, सोरठे लिखने से बाज नहीं आते। नख-शिख, नायिका-भेद, अलंकार-शास्त्र पर पुस्तकों-पर-पुस्तकें लिखते चले जाते हैं। अपनी व्यर्थ, बनावटी बातों से देवी-देवताओं तक को बदनाम करने में नहीं सकुचाते। फल इसका यह हुआ है कि असलियत काफ़ूर हो गई है।

कविता के बिगड़ने और उसकी सीमा परिमित हो जाने से साहित्य पर भारी आघात होता है। वह बरबाद हो जाता है। भाषा में दोष आ जाता है। जब कविता की प्रणाली बिगड़ जाती

है तब उसका असर सारे ग्रन्थकारों पर पड़ता है। यही क्यों, सर्वसाधारण की बोलचाल तक में कविता के दोष आ जाते हैं। जिन शब्दों, जिन भावों, जिन उक्तियों का प्रयोग कवि करते हैं उन्हीं का प्रयोग और लोग भी करने लगते हैं। भाषा और बोलचाल के सम्बन्ध में कवि ही प्रमाण माने जाते हैं। कवियों ही के प्रयुक्त शब्दों और मुहावरों को कोशकार अपने कोशों में रखते हैं। मतलब यह है कि भाषा और बोलचाल का बनाना या बिगाड़ना प्रायः कवियों के ही हाथ में रहता है। जिस भाषा के कवि अपनी कविता में बुरे शब्द और बुरे भाव भरते रहते हैं उस भाषा की उन्नति तो होती नहीं, उलटी अवनति होती जाती है।

कविता-प्रणाली के बिगड़ जाने पर यदि कोई नई तरह की स्वाभाविक कविता करने लगता है तो लोग उसकी निन्दा करते हैं। कुछ नासमझ और नादान आदमी कहते हैं, यह बड़ी भद्दी कविता है; कुछ कहते हैं, यह कविता ही नहीं; कुछ कहते हैं कि यह कविता तो 'छन्द-प्रभाकर' में दिये गए लक्षणों से च्युत है, अतएव यह निर्दोष नहीं। बात यह है कि वे जिसे अब तक कविता कहते आए हैं वही उनकी समझ में कविता है और सब कोरी काँव-काँव। इसी तरह की नुक्ताचीनी से तंग आकर अँग्रेजी के प्रसिद्ध कवि गोल्डस्मिथ ने अपनी कविता को सम्बोधन करके उसकी सान्त्वना की है। वह कहता है—"*कविते! यह बेकदरी का ज़माना है। लोगों के चित्त का तेरी तरफ खिंचना तो दूर रहा, उलटी सब कहीं तेरी निन्दा होती है। तेरी बदौलत सभा-समाजों और जलसों में मुझे लज्जित होना पड़ता है। पर जब मैं अकेला होता हूँ तब तुझ पर घमण्ड करता हूँ। याद रख, तेरी उत्पत्ति स्वाभाविक है। जो लोग अपने प्राकृतिक बल पर भरोसा रखते हैं वे निर्धन होकर भी आनन्द में रह सकते हैं। पर अप्राकृतिक बल पर*

किया गया गर्व कुछ दिन बाद जरूर चूर्ण हो जाता है।" गोल्ड-स्मिथ ने इस विषय पर बहुत-कुछ कहा है। इससे प्रकट है कि नई कविता-प्रणाली पर भृकुटी टेढ़ी करने वाले कवि-प्रकांडों के कहने की कुछ भी परवाह न करके अपने स्वीकृत पथ से जरा भी इधर-उधर होना उचित नहीं।

आजकल लोगों ने कविता और पद्य को एक ही चीज समझ रखा है। यह भ्रम है। कविता और पद्य में वही भेद है जो 'पोयटरी' (Poetry) और 'वर्स' (Verse) में है। किसी प्रभावोत्पादक और मनोरंजक लेख, बात या वक्तृता का नाम कविता है और नियमानुसार तुली हुई सतरों का नाम पद्य है। जिस पद्य के पढ़ने या सुनने से चित्त पर असर नहीं होता वह कविता नहीं, वह नपी-तुली शब्द स्थापना-मात्र है। गद्य और पद्य दोनों में कविता हो सकती है। तुकबन्दी और अनुप्रास कविता के लिए अपरिहार्य नहीं। संस्कृत का प्रायः सारा पद्य-समूह विना तुकबन्दी का है, और संस्कृत से बढ़कर कविता शायद ही किसी भाषा में हो। अरब में भी सैकड़ों अच्छे-अच्छे कवि हुए हैं। वहाँ भी शुरू-शुरू में तुकबन्दी का बिलकुल खयाल नहीं था। अंग्रेजी में भी अनुप्रासहीन बेतुकी कविता होती है। हाँ, एक बात जरूर है कि वजन और काफिए से कविता अधिक चित्ताकर्षक हो जाती है। पर कविता के लिए ये बातें ऐसी हैं जैसे कि शरीर के लिए वस्त्राभरण। यदि कविता का प्रधान धर्म मनोरंजकता और प्रभावोत्पादकता उसमें न हो तो इनका होना निष्फल समझना चाहिए। पद्य के लिए काफिए वगैरह की जरूरत है, कविता के लिए नहीं। कविता के लिए तो ये बातें एक प्रकार से उलटी हानिकारक हैं। तुले हुए शब्दों में कविता करने और तुक, अनुप्रास आदि ढूँढ़ने से कवियों के विचार-स्वातन्त्र्य में बड़ी बाधा आती है। पद्य के नियम कवि के लिए

एक प्रकार की बेड़ियाँ हैं। उनसे जकड़ जाने से कवियों को अपनी स्वाभाविक उड़ान में कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। कवि का काम है कि वह अपने मनोभावों को स्वाधीनता-पूर्वक प्रकट करे। पर काफ़िया और वज़न उसकी स्वाधीनता में विघ्न डालते हैं। उसे वे अपने भावों को स्वतन्त्रता से नहीं प्रकट करने देते। काफ़िए और वज़न को पहले ढूँढ़कर कवि को अपने मनोभाव तदनुकूल गढ़ने पड़ते हैं। इसका मतलब यह हुआ कि प्रधान बात अप्रधानता को प्राप्त हो जाती है और एक बहुत गौण बात प्रधानता के आसन पर जा बैठती है। फल यह होता है कि कवि की कविता का असर कम हो जाता है।

जो बात एक असाधारण और निराले ढंग से शब्दों द्वारा इस तरह प्रकट की जाय कि सुनने वालों पर उसका कुछ-न-कुछ असर जरूर पड़े, उसका नाम कविता है। आजकल हिन्दी के पद्य-रचयिताओं में कुछ ऐसे भी हैं जो अपने पद्यों को कालि-दास, होमर और बाइरन की कविता से भी बढ़कर समझते हैं। कोई सम्पादक के खिलाफ नाटक, प्रहसन और व्यंग्यपूर्ण लेख प्रकाशित करके अपने जी की जलन शान्त करते हैं।

कवि का सबसे बड़ा गुण नई-नई बातों का सूझना है। उसके लिए इमैजिनेशन (Immagination) की बड़ी जरूरत है। जिसमें जितनी ही अधिक यह शक्ति होगी वह उतनी ही अच्छी कविता कर सकेगा। कविता के लिए उपज चाहिए। नये-नये भावों की उपज जिसके हृदय में नहीं होती वह कभी अच्छी कविता नहीं कर सकता। ये बातें प्रतिभा की बदौलत होती हैं, इसलिए संस्कृत वालों ने प्रतिभा को प्रधानता दी है। प्रतिभा ईश्वरदत्त होती है, अभ्यास से वह नहीं प्राप्त होती। इस शक्ति को कवि माँ के पेट से लेकर पैदा होता है। उसी की बदौलत वह भूत और भविष्यत् को हस्तामलकवत् देखता है।

वर्तमान की तो कोई बात ही नहीं। इसी की कृपा से वह सासारिक बातो को एक अजीब निराले ढग से वर्णन करता है, जिसे सुनकर सुनने वाले के हृदयोदधि मे नाना प्रकार के सुख, दु ख, आश्चर्य आदि विकारों की लहरें उठने लगती है। कवि कभी कभी ऐसी अद्भुत बातें कह देते है कि जो कवि नहीं है उनकी पहुँच वहाँ तक कभी हो ही नहीं सकती।

कवि का काम है कि वह प्रकृति-विकास को खूब ध्यान से देखे। प्रकृति की लीला का कोई ओर-छोर नहीं। वह अनन्त है। प्रकृति अद्भुत अद्भुत खेल खेला करती है। एक छोटे से फूल मे वह अजीब अजीब कौशल दिखलाती है। वे साधारण आदमियों के ध्यान मे नहीं आते। वे उनको समझ नहीं सकते, पर कवि अपनी सूक्ष्म दृष्टि से प्रकृति के कौशल अच्छी तरह से देख लेता है। उनका वर्णन भी वह करता है, उनसे नाना प्रकार की शिक्षा भी ग्रहण करता है और अपनी कविता द्वारा ससार को लाभ पहुँचाता है। जिस कवि मे प्राकृतिक दृश्य और प्रकृति के कौशल देखने और समझने का जितना ही अधिक ज्ञान होता है वह उतना ही बडा कवि भी होता है। प्रकृति-पर्यालोचना के सिवा कवि को मानव-स्वभाव की आलोचना का भी अभ्यास करना चाहिए। मनुष्य अपने जीवन मे अनेक प्रकार के सुख-दु खादि का अनुभव करता है। उसकी दशा कभी एक-सी नहीं रहती। अनेक प्रकार की विकार-तरगे उसके मन मे उठा ही करती है। इन विकारों की जाँच, ज्ञान और अनुभव करना सबका काम नहीं। केवल कवि ही इनके अनुभव कराने मे समर्थ होता है। जिसे कभी पुत्र-शोक नहीं हुआ उसे उस शोक का यथार्थ ज्ञान होना सम्भव नहीं। पर यदि वह कवि है तो वह पुत्र शोकाकुल पिता या माता की आत्मा में प्रवेश-सा करके उसका अनुभव कर लेता है। उस अनुभव को वह इस तरह

वर्णन करता है कि सुनने वाला तन्मनस्क होकर उस दुःख से अभिभूत हो जाता है। उसे ऐसा मालूम होने लगता है कि स्वयं उसी पर वह दुःख पड़ रहा है। जिस कवि को मनोविकारों और प्राकृतिक बातों का यथेष्ट ज्ञान नहीं होता वह कदापि अच्छा कवि नहीं हो सकता।

कविता को प्रभावोत्पादक बनाने के लिए उचित शब्द-स्थापना की भी बड़ी जरूरत है। किसी मनोविकार या दृश्य के वर्णन में ढूँढ ढूँढकर ऐसे शब्द रखने चाहिएँ जो सुनने वालों की आँखों के सामने वर्ण्य विषय का एक चित्र-सा खींच दें। मनोभाव चाहे कैसा ही अच्छा क्यों न हो, यदि वह तदनुकूल शब्दों में न प्रकट किया गया, तो उसका असर यदि जाता नहीं रहता तो कम जरूर हो जाता है। इसलिए कवि को चुन-चुनकर ऐसे शब्द रखने चाहिएँ और इस क्रम से रखने चाहिएँ, जिससे उसके मन का भाव पूरे तौर पर व्यक्त हो जाय, उसमें कसर न पड़े। मनोभाव शब्दों ही द्वारा व्यक्त होता है, अतएव सयुक्तिक शब्द-स्थापना के बिना कवि की कविता तादृश्य हृदयहारिणी नहीं हो सकती। जो कवि अच्छी शब्द-स्थापना करना नहीं जानता, अथवा यों कहिए कि जिसके पास काफी शब्द-समूह नहीं है, उसे कविता करने का परिश्रम ही न करना चाहिए। जो सुकवि हैं उन्हें एक-एक शब्द की योग्यता ज्ञात रहती है। वे खूब जानते हैं कि किस शब्द में क्या प्रभाव है। अतएव जिस शब्द में उनका भाव प्रकट करने की एक बाल भर भी कमी होती है उसका वे कभी प्रयोग नहीं करते।

अंग्रेजी के प्रसिद्ध कवि मिल्टन ने कविता के तीन गुण वर्णन किये हैं। उनकी राय है कि कविता सादी हो, जोश से भरी हो और असलियत से गिरी हुई न हो। सादगी से यह मतलब नहीं कि सिर्फ शब्द-समूह ही सादा हो, किन्तु विचार-

परम्परा भी सादी हो। भाव और विचार ऐसे सूक्ष्म और छिपे हुए न हों कि उनका मतलब समझ मे न आए, या देर से समझ में आए। यदि कविता में कोई ध्वनि हो तो इतनी दूर की न हो कि उसे समझने मे गहरे विचार की जरूरत हो। कविता पढने या सुनने वाले को ऐसी साफ-सुथरी सडक मिलनी चाहिए जिस पर कंकर, पत्थर, टीले, खदक, कॉटे और झाडियों का नाम न हो। वह खूब साफ और हमवार हो जिससे उस पर चलने वाला आराम से चला जाय। जिस तरह सडक जरा भी ऊँची नीची होने से पेरगाडी के सवार को दचके लगते है, उसी तरह कविता की सडक यदि थोडी सी नाहमवार हुई तो पढने वाले के हृदय पर धक्का लगे बिना नहीं रहता। कविता रूपी सडक के इधर-उधर स्वच्छ पानी के नदी नाले बहते हों, दोनों तरफ फल फूलों से लदे हुए पेड हों, जगह-जगह पर विश्राम करने योग्य स्थान बने हों, प्राकृतिक दृश्यों की नई नई झॉकियॉ ऑखों को लुभाती हो। दुनिया में आज तक जितने अच्छे-अच्छे कवि हुए है उनकी कविता ऐसी ही देखी गई है। अटपटे भाव और अटपटे शब्द प्रयोग करने वाले कवियों की कभी कद्र नहीं हुई। यदि कभी किसी की कुछ हुई भी है तो थोडे ही दिन तक। ऐसे कवि विस्मृति के अन्धकार मे ऐसे छिप गए हैं कि इस समय उनका कोई नाम तक नहीं जानता। एक मात्र सूखी शब्द-झकार ही जिन कवियों की करामात है, उन्हें चाहिए कि वे एकदम ही बोलना बन्द कर दें। भाव चाहे कैसा ही ऊँचा क्यों न हो, पेचीला न होना चाहिए। वह ऐसे शब्दों द्वारा प्रकट किया जाना चाहिए जिनसे सब लोग परिचित हों, क्योंकि कविता की भाषा बोलचाल से जितनी ही अधिक दूर जा पडती है उतनी ही उसकी सादगी कम हो जाती है। बोलचाल से मतलब उस भाषा से है जिसे खास और आम सब बोलते हैं, विद्वान और अविद्वान दोनों जिसे काम में लाते

हैं। इसी तरह कवि को मुहावरे का भी खयाल रखना चाहिए। जो मुहावरा सर्वसम्मत है उसी का प्रयोग करना चाहिए। हिन्दी और उर्दू में कुछ शब्द अन्य भाषाओं के भी आ गए हैं। वे यदि बोलचाल के हैं तो उनका प्रयोग सदोष नहीं माना जा सकता। उन्हें त्याज्य नहीं समझना चाहिए। कोई-न-कोई ऐसे शब्दों को मूल रूप में लिखना ही सही समझते हैं, पर यह उनकी भूल है।

असलियत से यह मतलब नहीं कि कविता एक प्रकार का इतिहास समझी जाय और हर बात में सचाई का खयाल रखा जाय; यह नहीं कि सचाई की कसौटी पर कसने पर यदि कुछ भी कसर मालूम हो तो कविता का कवितापन जाता रहे। असलियत से सिर्फ इतना ही मतलब है कि कविता बेबुनियाद न हो। उसमें जो उक्ति हो वह मानवी मनोविकारों और प्राकृतिक नियमों के आधार पर कही गई हो, स्वाभाविकता से उसका लगाव न छूटा हो। कवि यदि अपनी या और किसी की तारीफ करने लगे और यदि वह उसे सचमुच ही सच समझे अर्थात् उसकी भावना वैसी ही हो, तो वह भी असलियत से खाली नहीं, फिर चाहे और लोग उसे उसका उलटा ही क्यों न समझते हों।

परन्तु इन सब बातों में भी स्वाभाविकता से दूर न जाना चाहिए; क्योंकि स्वाभाविक अर्थात् नेचुरल (Natural) उक्तियाँ ही सुनने वाले के हृदय पर असर कर सकती हैं, अस्वाभाविक नहीं। असलियत को लिये हुए कवि स्वतन्त्रता-पूर्वक जो चाहे कह सकता है, असल बात को नये साँचे में ढाल-कर कुछ दूर तक इधर-उधर की उड़ान भी कर सकता है, पर असलियत के लगाव को वह नहीं छोड़ता। असलियत को हाथ से जाने देना मानो कविता को प्राय: निर्जीव कर डालना है। शब्द और अर्थ दोनों ही के सम्बन्ध में उसे स्वाभाविकता ——धावन करना चाहिए। जिस बात के कहने में लोग

स्वाभाविक रीति पर जैसे और जिस क्रम से शब्द प्रयोग करते हैं वैसे ही कवि को भी करना चाहिए। कविता में उसे कोई बात ऐसी न कहनी चाहिए जो दुनिया में न होती हो। जो बातें हमेशा हुआ करती हैं अथवा जिन बातों का होना सम्भव है, वही स्वाभाविक हैं। अर्थ की स्वाभाविकता से मतलब ऐसी ही बातों से है। जोश से यह मतलब है कि कवि जो-कुछ कहे इस तरह कहे मानो उसके प्रयुक्त शब्द आप-ही-आप उसके मुँह से निकल गए हैं। उनसे बनावट न जाहिर हो। यह न मालूम हो कि कवि ने कोशिश करके ये बातें कही हैं, किन्तु यह मालूम हो कि उसके हृद्गत भावों ने कविता के रूप में अपने को प्रकट कराने के लिए उसे विवश किया है। जो कवि है उसमें जोश स्वाभाविक होता है। वर्ण्य वस्तु को देखकर, किसी अदृश्य शक्ति की प्रेरणा से वह उस पर कविता करने के लिए विवश-सा हो जाता है। उसमें एक अलौकिक शक्ति पैदा हो जाती है। इसी शक्ति के बल से वह सजीव ही नहीं, निर्जीव चीजों तक का वर्णन ऐसे प्रभावोत्पादक ढंग से करता है कि यदि उन चीजों में बोलने की शक्ति होती तो खुद वे भी उससे अच्छा वर्णन न कर सकतीं। जोश से यह भी मतलब नहीं कि कविता के शब्द खूब जोरदार और जोशीले हों। सम्भव है, शब्द जोरदार न हों पर जोश उनमें छिपा हुआ हो। धीमे शब्दों में भी जोश रह सकता है और पढ़ने या सुनने वाले के हृदय पर चोट कर सकता है। परन्तु ऐसे शब्दों का कहना ऐसे-वैसे कवि का काम नहीं। जो लोग मीठी छुरी से तलवार का काम लेना जानते हैं वही धीमे शब्दों में जोश भर सकते हैं।

सादगी, असलियत और जोश, यदि ये तीनों गुण कविता में हों तो कहना ही क्या? परन्तु बहुधा अच्छी कविता में भी इनमें से एकाध गुण की कमी पाई जाती है। कभी-कभी देखा

जाता है कि कविता में केवल जोश रहता है, सादगी और असलियत नहीं। परन्तु बिना असलियत के जोश का होना बहुत कठिन है। अतएव कवि को असलियत का सबसे अधिक ध्यान रखना चाहिए।

अच्छी कविता की सबसे बड़ी परीक्षा यह है कि इसे सुनते ही लोग बोल उठें कि सच कहा है। वही सच्चे कवि हैं जिनकी कविता सुनकर लोगों के मुँह से सहसा यह उक्ति निकलती है। ऐसे कवि धन्य हैं, और जिस देश में ऐसे कवि पैदा होते हैं वह देश भी धन्य है। ऐसे ही कवियों की कविता चिरकाल तक जीवित रहती है।

व्रजभाषा का विरोध

खड़ी बोली के प्रचण्ड पक्षपाती या व्रजभाषा के प्रबल विरोधी कुछ सज्जनों की यह धारणा है कि वीर भावों के प्रकाशन के लिए व्रजभाषा उपयुक्त नहीं है, यह 'जनानी ज़बान' है, शृंगार रस की लीला के लिए ही गढ़ी गई है, इसमें केवल विरह-वेदना का रोना ही रोया जा सकता है, प्रेम-पचड़ों का राग ही अलापा जा सकता है, देश-भक्ति और वीर-रस के 'कड़के' इसमें नहीं समा सकते। यहीं तक नहीं, व्रजभाषा के विरोध में कुछ वीर-पुंगव इससे भी कुछ आगे बढ़े हैं। उनका कहना है कि देश की वर्तमान अधोगति के—क्लीवता-सञ्चार के—कारणों में व्रजभाषा भी एक कारण हुई है, इसकी कविता के प्रचार ने हिन्दुओं को नपुंसक बना दिया। इस धारणा के दो कारण बतलाए जाते हैं—एक तो व्रजभाषा की स्वाभाविक मधुरता, दूसरा शृङ्गार रस के काव्यों की अधिकता। निस्सन्देह व्रजभाषा मधुर और कोमल-कान्त-पदावली वाली भाषा है, पर संसार में और भी कई भाषाएँ हैं जो मधुरता में व्रजभाषा के समकक्ष समझी जाती हैं। फारसी भाषा एक ऐसी ही भाषा है; माधुर्य के आधिक्य से इसका नाम ही 'कन्दे-पारसी' पड़ गया है। शृंगार रस की कविता—इश्किया गज़लों के लिए फ़ारसी बेतरह बदनाम है, पर उसी में महाकवि

फिरदौसी का 'शाहनामा' भी है जो वीर-रस का एक उमड़ा हुआ दरिया (नद) है, मधुर भाषा के इस महाकाव्य—शाहनामे—पर *महमूद गज़नवी जैसा क्रूर वीर इतना मोहित था कि वीर भाव* जागरित रखने के लिए वह इसे सदा साथ रखता था, युद्ध-भूमि में भी सदा इसे सिरहाने रखकर सोता था। यूरोपियन भाषाओं में फ्रेंच भाषा सबसे मधुर कही जाती है, उसमें वीर-रस के काव्यों की कमी नहीं। जगद्विजयी वीर नेपोलियन की *मातृ-भाषा यही मधुर भाषा थी, फ्रेन्च-माधुरी का उपासक फ्रांस* किसी भी कर्णकटु कठोर भाषा-भाषी देश से वीरता में कम नहीं है।

कवि में कवित्व-शक्ति चाहिए; वह किसी भी भाषा में समान रूप से सफलतापूर्वक शृङ्गार और वीर रस का वर्णन कर सकता है, भाषा उसके भावों को संकुचित नहीं कर सकती। जो लार्ड बायरन अश्लीलता की सीमा को उल्लंघन करने वाले संयोग-शृंगार का नग्न चित्र खींचकर पाठक-पाठिकाओं के लाज के जहाज को शृंगार रस की खाड़ी में डुबो सकता है, वही बायरन उसी भाषा में उत्तेजना उत्पन्न करने वाली वीर रस की कविता द्वारा यूनान को तुर्कों के पराधीनता-पाश से मुक्ति भी दिला सकता है।

आर्य भाषाओं की जननी संस्कृत भाषा का साहित्य शृंगार रस से भरा पड़ा है। शृंगार रस के इतने काव्य शायद ही संसार की किसी नई-पुरानी भाषा में हों। मधुरिमा भी इसकी अतुलनीय है, पर रामायण और महाभारत के जोड़ के वीर रस के काव्य किस कड़वी और कठोर भाषा में हैं? जिस भाषा में आदिकवि ने करुण रस की महानदी बहाई है, वीर रस का उत्तुंग-तरंग-शाली शोणभद्र भी उसी में हिलोरें ले रहा है। ज्ञान गंगा के उद्-गम भगवान् कृष्ण द्वैपायन का पंचम वेद (महाभारत) शान्त रस का प्रशान्त महासागर भी है और वीररस का प्रलय-पयोधि भी।

भारत की आधुनिक भाषाओं में वंग भाषा कोमलता में कुछ कम नहीं है। इसके शृंगार रस के उपन्यासों की बाढ़ ने भाषान्तर के रूप में खड़ी बोली को भी सराबोर कर रखा है, फिर भी उसमें वीर रस के महाकाव्य 'मेघनाद-वध' की रचना हो सकती है। जो बात इन भाषाओं में सम्भव है वह व्रजभाषा ही में क्यों असम्भव समझी जाती है? इसलिए व्रजभाषा-विरोधियों का उक्त तर्क कोरा हेत्वाभास ही है, अन्वय-व्यतिरेक द्वारा किसी प्रकार भी इसकी सत्यता प्रमाणित नहीं की जा सकती। व्रजभाषा में अधिकतर काव्य शृंगार रस के ही हैं, यह ठीक है; पर इसमें भाषा बेचारी का क्या अपराध है? यदि है तो उस समय की लोक-रुचि का। जब जैसी लोक-रुचि होती है वैसे ही काव्य बनने लगते हैं, जिस जिन्स और मार्ग की खपत होती है वही बाजार में आती है, तथापि व्रजभाषा में वीर-रस का सर्वथा अभाव नहीं है। अनेक प्राचीन कवियों ने व्रजभाषा में वीर रस की कविता की है। इसके कई उदाहरण दिये जा सकते हैं, यथा कुलपति मिश्र का 'द्रोण पर्व', रघुनाथ बन्दीजन का चार जिल्दों में पूरा 'महाभारत', लाल कवि का 'छत्र-प्रकाश,' श्रीधर और चन्द्रशेखर वाजपेयी का 'हम्मीर-हठ', पद्माकर की 'हिम्मत बहादुर-विरदावली,' श्रीधर का 'जंगनामा,' भूषण का 'हजारा' (जो दुर्भाग्य से अब अप्राप्य है) और 'भूषण ग्रन्थावली' तथा स्वर्गीय नकछेदी तिवारी द्वारा संग्रहीत 'वीरोल्लास' इत्यादि वीर रस के अनेक ग्रन्थ-रत्न आज भी प्राप्य हैं। महाकवि गंग और सेनापति आदि के बचे-खुचे बहुसंख्यक फुटकर पद्य व्रज-भाषा के विलुप्त वीर-साहित्य का पता आज अलग दे रहे हैं, पर इनके पढ़ने वाले कितने हैं? शायद इन इने-गिने उपलब्ध ग्रन्थों की संख्या के बराबर भी नहीं। फिर आप ही इंसाफ से कहिए यह किसका अपराध है—भाषा का या लोक-रुचि का?

जिनकी कविता का मुख्य विषय वीर-रस का वर्णन था उन्हें जाने दीजिए। महात्मा सूरदास ही को लीजिए, वह शृङ्गार रस के मुख्य भक्त कवि थे। शृङ्गार, करुण और वात्सल्य रस में ही उनकी कविता डूबी हुई है, फिर भी वीर रस का जहाँ-कहीं प्रसंग आ गया है, चित्र-सा खींच दिया है। 'भीष्म-प्रतिज्ञा' का यह पद देखिए, कितना जोरदार है—

"आजु जो हरिहिं न सस्त्र गहाऊँ,
तौ लाजौं गंगा-जननी को सन्तनु-सुत न कहाऊँ।
सर धनु तोरि महारथ सगरी कपिधुज-सहित गिराऊँ,
पाण्डव-सैन समेत-सारथी सोनित-सरित बहाऊँ।
जीवौं तो जस लेहुँ जगत में जीन-निसान फिराऊँ,
मरौं तो मण्डल भेदि भानु को सुरपुर जाय बसाऊँ।
इती न करौं सपथ मोहि हरि की छत्रिय-गतिहि न पाऊँ,
'सूरदास' रन विजय-सखा को जियत न पीठ दिखाऊँ।"

आधुनिक कवियों में श्री भारतेन्दु, पं० प्रतापनारायण मिश्र, पं० नाथूरामशंकर शर्मा 'शंकर' और स्वर्गीय सत्यनारायण जी कविरत्न इत्यादि ने विशुद्ध ब्रजभाषा मे देश भक्ति पर बड़ी ओजस्विनी कविता की है। ब्रजमाधुरी के परम पारखी श्री वियोगी हरिजी ने 'वीर-सतसई' रचकर अच्छी तरह सिद्ध कर दिया है कि ब्रजभाषा में आज भी वीर रस की उत्तम कविता हो सकती है। कवि के हृदय मे उत्साह भरा हो तो ब्रजभाषा भी अपना पराक्रम दिखा सकती है और उत्साहहीन हृदयों को खड़ी बोली भी उठाकर खड़ा नहीं कर सकती; ऐसों को तो डिंगल का डंका भी नहीं जगा सकता।

सामयिक परिस्थिति और देश की दशा का प्रभाव कविता पर भी अनिवार्य रूप से पड़ता है, नायिका-भेद में लीन विरह-वेदना से मूर्छित शृङ्गारी कवि भी परिस्थिति से विवश होकर वीणा की

मधुर झंकार मे ऐसा मारू राग अलापने लगते हैं जो क्रान्ति का कारण बन जाता है, इतिहास इसका साक्षी है। समय पडने पर कुसुम-सुकुमारी कोकिल-कण्ठी कुल-ललनाओं ने अपनी मधुर पर ओजपूर्ण भर्त्सना से कायर पुरुषों को पुरुष-सिंह बना दिया है, रण भीरुओं को समरांगण मे हँसते हँसते प्राणाहुति देने पर उद्यत कर दिया है, जो काम प्रचण्ड रण-वाद्य नहीं करा सका वह एक हृदय-वेधी, मधुरोपालम्भ और मीठी चुटकी ने करा दिया है, मानव-हृदय के इसी रहस्य को लक्ष्य में रखकर प्राचीन आचार्यों ने काव्य-प्रयोजनों में '*कान्तासम्मिततयोपदेशयुजे*' को स्थान दिया है—जिन मत्त हृदयों पर राजाज्ञा और गुरूपदेश का कठोर अंकुश असर नहीं कर सकता वे भी कान्ता के कोमल-कान्त परामर्शों की अवहेलना नहीं कर सकते। जो कविता या संगीत श्रोता की हृत्तन्त्री के तार को नहीं छू सकता—जिसमे हृदयगमता नहीं है—वह चाहे जिस भाषा मे हो, कवि की भावना कितनी ही उदात्त क्यों न हो, उसका कुछ भी प्रभाव न पडेगा, अरण्य-रोदन होकर रह जायगा। किसी भाषा से केवल इसलिए घृणा करना—उसे किसी काम की न समझना कि उसमें ऐसी कविता की अधिकता है जो मानव-चरित को उदात्त बनाने मे बाधक है, या चरित-भ्रंश का कारण हुई है, ठीक नहीं है। राग विद्या की उपादेयता में औंधी खोपडी के कुछ पुराने खूसटों को छोड़कर किसी सहृदय विवेकी का मतभेद नहीं है। इसी राग-विद्या या संगीत-कला को लीजिए, क्या इसने न जाने कितने शौकीन नवयुवकों को अपनी मादकता से अनय के गर्त मे गिराकर नष्ट नहीं किया, विलासी अमीरों की नीच वासनाओं को उत्तेजना दे-देकर यह उनके सर्वनाश का कारण नहीं बनी, पर इससे क्या इस कला की उपादेयता मे किसी सहृदय विवेकी का मतभेद हो सकता है ? संगीत-कला का दुरुपयोग ही निंद्य और त्याज्य है तथा उसका सदुपयोग

अभिनन्दनीय और वाञ्छनीय है। *जहाँ संगीत-कला के दुरुपयोग* से अनेक का अनिष्ट हुआ है, वहाँ इसी सदुपयोग से परमानन्दपयोधि के मीन अनिर्वचनीय आनन्द में लीन होने वाले आदर्श महात्माओं की संख्या भी कम नहीं है।

ब्रजभाषा के वैष्णव कवियों ने उस समय के नृशंस शासकों के असह्य अत्याचार से पीड़ित किंकर्त्तव्यविमूढ हिन्दू जाति के भग्न हृदय को अपने मधुर कीर्तन से भयहारी-असुरारि भगवान् के चरणों में लगाकर जो उपकार किया है वह सहस्र मुख से प्रशंसनीय है। उस समय की परिस्थिति का ध्यान करने पर ही इसका औचित्य समझ में आ सकता है, जबकि खुले शब्दों में अपने धर्म की महत्ता का प्रतिपादन करना—उत्तेजना का एक शब्द भी मुँह से निकालना मौत को निमन्त्रण देना था। नृशंसता के उस साम्राज्य में, जहाँ यह कहने वाले की जबान काट दी जाती थी कि 'हिन्दू के लिए हिन्दू धर्म और मुसलमान के लिए इस्लाम दोनों सच्चे हैं' रणभेरी बजाने का अवसर ही कहाँ था। निराशा के उस अपार सागर से पार पाने का उपाय भगवद्भक्ति का प्रचार ही था, इसी ने जाति की डगमगाती *नैया को बचाया था। ब्रजभाषा में भक्ति भावना-भरी प्रेम-पूरित* मधुर कविता के प्राधान्य का यह भी प्रधान कारण है।

नायिका भेद और कुरुचि संचारक साहित्य को जाने दीजिए, जो उपादेय है उसीको ग्रहण कीजिए, *अपने प्राचीन साहित्य* का संहार नहीं, सुधार कीजिए। हिन्दी भाषा का सिर आज भी अपने प्राचीन साहित्य के कारण ही ऊँचा है, तुलसी, सूर, केशव, बिहारी, मतिराम, घनानन्द और देव आदि प्राचीन कवियों को *निकाल दीजिए और उसी शैली के आधुनिक कवियों,* भारतेन्दु आदि, की कविता को पृथक् कर दीजिए, फिर देखिए हिन्दी साहित्य में कोरे उपन्यासों और भावहीन भद्दी तुकबन्दी

के अतिरिक्त और क्या रह जाता है। बंगला आदि प्रान्तीय भाषाओं का वर्तमान साहित्य अन्य सब विषयों में राष्ट्र-भाषा हिन्दी के साहित्य से कहीं बढ़ा-चढ़ा है। हिन्दी का गौरव प्राचीन साहित्य पर निर्भर है; तुलसी और सूर आदि प्राचीन कवि-विधाताओं की समानता करने वाले कवि भारत की अन्य किस भाषा में हैं ? अपने आदरणीय प्राचीन साहित्य की अवहेलना द्वारा हिन्दी भाषा की इस विशेषता का विनाश न कीजिए। कोई भी प्राचीनता का पक्षपाती यह नहीं कहता कि नये ढंग के साहित्य का निर्माण न किया जाय, पर उसे विलुप्त होने से बचाया जाय। कविता खड़ी बोली में ही कीजिए, पर ब्रज-माधुरी का स्वाद न भुलाइए, उसमे भी बहुत-कुछ लेने लायक है, सदियों तक ब्रजभाषा कविता की भाषा रही है, आज भी अनेक सत्कवि उसीमें कविता करते हैं, ब्रजभाषा मुरदा भाषा नहीं है, जैसा कि कुछ मनचले महाशय कह बैठते हैं, उसके बोलने वाले अब भी लाखों की संख्या में हैं। ब्रजभाषा से वर्तमान खड़ी बोली और उर्दू का घनिष्ठ सम्बन्ध है, इस बात को अनेक भाषा-विज्ञानी विद्वानों ने मुक्तकण्ठ से स्वीकार किया है। उर्दू के पुराने कवि मीर, सौदा और इंशा की कविता पढ़िए—सबमे ब्रजभाषा के ठेठ मुहावरे मिलेंगे, इन मुसलमान महा-कवियों को ब्रजभाषा के शब्दों से उतना ही प्रेम था जितना कि आजकल के कुछ हिन्दी-कवियों को उनसे द्वेष है। ये अच्छे लक्षण नहीं हैं, संकीर्णता या अनुदारता साहित्य और भाषा की विघातक है।

५ : : डॉक्टर श्यामसुन्दरदास

भारतीय साहित्य की विशेषताएँ

समस्त भारतीय साहित्य की सबसे बड़ी विशेषता उसके मूल में स्थित समन्वय की भावना है। उसकी यह विशेषता इतनी प्रमुख तथा मार्मिक है कि केवल इसीके बल पर संसार के अन्य साहित्यों के सामने वह अपनी मौलिकता की पताका फहरा सकती है और अपने स्वतन्त्र अस्तित्व की सार्थकता प्रमाणित कर सकती है। जिस प्रकार धार्मिक क्षेत्र मे भारत के ज्ञान, भक्ति तथा कर्म के समन्वय की प्रसिद्धि है तथा जिस प्रकार वर्ण एवं आश्रम-चतुष्टय के निरूपण द्वारा इस देश मे सामाजिक समन्वय का सफल प्रयास हुआ, ठीक उसी प्रकार साहित्य तथा अन्यान्य कलाओं में भी भारतीय प्रवृत्ति समन्वय की ओर रही है। साहित्यिक से हमारा तात्पर्य साहित्य में प्रदर्शित सुख-दुःख, उत्थान-पतन, हर्ष-विषाद आदि विरोधी तथा विपरीत भावों के समीकरण तथा एक अलौकिक आनन्द में उनके विलीन होने से है। साहित्य के किसी अंग को लेकर देखिए, सर्वत्र यही समन्वय दिखाई देगा। भारतीय नाटकों मे ही सुख और दुःख के प्रबल घात-प्रतिघात दिखाये गए हैं, पर सबका अवसान आनन्द मे ही किया गया है। इसका प्रधान कारण यह है कि भारतीयों का ध्येय सदा से जीवन का आदर्श स्वरूप उपस्थित

करके उसका उत्कर्ष बढ़ाने और उसे उन्नत बनाने का रहा है। वर्तमान स्थिति से उसका इतना सम्बन्ध नहीं है जितना भविष्य की सम्भाव्य उन्नति से है। हमारे यहाँ यूरोपीय ढंग के दुःखान्त नाटक इसीलिए नहीं दीख पड़ते। यदि आजकल दो-चार नाटक ऐसे दीख भी पड़ने लगे हैं तो वे भारतीय आदर्श से दूर और यूरोपीय आदर्श के अनुकरण-मात्र हैं। कविता के क्षेत्र में ही देखिए, यद्यपि विदेशी शासन से पीड़ित तथा अनेक क्लेशों से सन्तप्त हमारा देश निराशा की चरम सीमा तक पहुँच चुका था और उसके सभी अवलम्बों की इतिश्री हो चुकी थी, फिर भी भारतीयता के सच्चे प्रतिनिधि तत्कालीन महाकवि गोस्वामी तुलसीदास अपने विकाररहित हृदय से समस्त जाति को आश्वासन देते हैं—

"भरे भाग अनुराग लोग कहैं राम अवध चितवन चितई है।
विनती सुनि सानन्द हेरि हँसि करुना-वारि भूमि भिजई है॥
राम राज भयो काज सुगुन सुभ राजाराम जगत-विजई है।
समरथ बड़ो सुजान सुसाहब सुकृत-सेन हारत जितई है॥"

आनन्द की कितनी महान् भावना है! चित्त किसी अनुभूत आनन्द की कल्पना में मानो नाच उठता है। हिन्दी-साहित्य के विकास का समस्त युग विदेशी तथा विजातीय शासन का युग था, परन्तु फिर भी साहित्यिक समन्वय का कभी निरादर नहीं हुआ। आधुनिक युग के हिन्दी-कवियों में यद्यपि पश्चिमी आदर्शों की छाप पड़ने लगी है और लक्षणों के देखते हुए इस छाप के अधिकाधिक गहरी हो जाने की सम्भावना हो रही है, परन्तु जातीय साहित्य की धारा अक्षुण्ण रखने वाले शुद्ध कवि अब भी विद्यमान हैं।

यदि हम थोड़ा-सा विचार करें तो उपर्युक्त साहित्यिक समन्वयवाद का रहस्य हमारी समझ में आ सकता है। जब हम

थोड़ी देर के लिए साहित्य को छोड़कर भारतीय कलाओं का विश्लेषण करते हैं तब उनमें भी साहित्य की ही भाँति समन्वय की छाप दिखाई देती है। सारनाथ की बुद्ध भगवान की मूर्ति में ही समन्वय की यह भावना निहित है। बुद्ध की यह मूर्ति उस समय की है जब वह छ महीने की कठिन साधना के उपरान्त अस्थि-पंजर-मात्र ही रह होंगे; पर मूर्ति में कहीं कृशता का पता नहीं, उसके चारों ओर एक स्वर्गीय आभा नृत्य कर रही है।

इस प्रकार साहित्य तथा कला में भी इस प्रकार का आदर्शात्मक साम्य देखकर उसका रहस्य जानने की इच्छा और भी प्रबल हो जाती है। हमारे दर्शन-शास्त्र हमारी जिज्ञासा का समाधान कर देते हैं। भारतीय दर्शनों के अनुसार परमात्मा तथा जीवात्मा में कुछ भी अन्तर नहीं, दोनों एक ही है, दोनों सत्य हैं, चेतन हैं तथा आनन्द-स्वरूप है। बन्धन माया-जन्य है। माया अज्ञान है, भेद उत्पन्न करने वाली वस्तु है। जीवात्मा माया-जन्य अज्ञान को दूर कर अपना स्वरूप पहचानता है और आनन्दमय परमात्मा में लीन हो जाता है। आनन्द में विलीन हो जाना ही मानव जीवन का परम उद्देश्य है। जब हम इस दार्शनिक सिद्धान्त का ध्यान रखते हुए उपर्युक्त समन्वयवाद पर विचार करते हैं, तब सारा रहस्य हमारी समझ में आ जाता है तथा इस विषय में और कुछ कहने-सुनने की आवश्यकता नहीं रह जाती।

भारतीय साहित्य की दूसरी बड़ी विशेषता उसमें धार्मिक भावों की प्रचुरता है। हमारे यहाँ धर्म की बड़ी व्यापक व्यवस्था की गई है और जीवन के अनेक क्षेत्रों में उसको स्थान दिया गया है। धर्म में धारण करने की शक्ति है, अत केवल अध्यात्म पक्ष में ही नहीं, लौकिक आचार विचारों तथा राजनीति तक में उसका नियन्त्रण स्वीकार किया गया है। मनुष्य के वैयक्तिक

तथा सामाजिक जीवन को ध्यान में रखते हुए अनेक सामान्य तथा विशेष धर्मों का निरूपण किया गया है। वेदों के एकेश्वरवाद, उपनिषदों के ब्रह्मवाद तथा पुराणों के अवतारवाद और बहुदेववाद की प्रतिष्ठा जन-समाज मे हुई है और तदनुसार हमारा धार्मिक दृष्टिकोण भी अधिकाधिक विस्तृत तथा व्यापक होता गया है। हमारे साहित्य पर धर्म की इस अतिशयता का प्रभाव दो प्रधान रूपों मे पड़ा। आध्यात्मिकता की अधिकता होने के कारण हमारे साहित्य में एक ओर तो पवित्र भावनाओं और जीवन-सम्बन्धी गहन तथा गम्भीर विचारों की प्रचुरता हुई और दूसरी ओर साधारण लौकिक भावों तथा विचारों का विस्तार अधिक नहीं हुआ। प्राचीन वैदिक साहित्य से लेकर हिन्दी के वैष्णव साहित्य तक में हम यही बात पाते हैं। 'सामवेद' की मनोहारिणी तथा मृदु-गम्भीर ऋचाओं से लेकर सूर तथा मीरा आदि की सरल रचनाओं तक मे सर्वत्र परोक्ष भावों की अधिकता तथा लौकिक विचारों की न्यूनता देखने मे आती है।

उपर्युक्त मनोवृत्ति का परिणाम यह हुआ कि साहित्य में उच्च विचार तथा पूत भावनाएँ तो प्रचुरता से भरी गईं, परन्तु उसमें लौकिक जीवन की अनेकरूपता का प्रदर्शन न हो सका। हमारी कल्पना अध्यात्म-पक्ष मे तो निस्सीम तक पहुँच गई, परन्तु ऐहिक जीवन का चित्र उपस्थित करने मे वह कुछ कुण्ठित-सी हो गई। हिन्दी की चरम उन्नति का काल भक्ति काव्य का काल है, जिसमे उसके साहित्य के साथ हमारे जातीय साहित्य के लक्षणों का सामंजस्य स्थापित हो जाता है।

धार्मिकता के भाव से प्रेरित होकर जिस शिव तथा सुन्दर साहित्य का सृजन हुआ, वह वास्तव मे हमारे गौरव की वस्तु है; परन्तु समाज मे जिस प्रकार धर्म के नाम पर अनेक ढोंग रचे जाते हैं तथा गुरुडम की प्रथा चल पड़ती है, उसी प्रकार साहित्य

में भी धर्म के नाम पर पर्याप्त अनर्थ होता है। हिन्दी-साहित्य के क्षेत्र में हम यह अनर्थ दो मुख्य रूपों में देखते हैं—एक तो साम्प्रदायिक कविता तथा नीरस उपदेशों के रूप में और दूसरा 'कृष्ण' का आधार लेकर की हुई हिन्दी के शृङ्गारी कवियों के रूप में। हिन्दी में साम्प्रदायिक कविता का एक युग ही हो गया है और 'नीति के दोहों' की तो अब तक भरमार है। अन्य दृष्टियों से नहीं तो कम-से-कम शुद्ध साहित्यिक समीक्षा की दृष्टि से ही सही, साम्प्रदायिक तथा उपदेशात्मक साहित्य का अत्यन्त निम्न स्थान है; क्योंकि नीरस पदावली में कोरे उपदेशों में कवित्व की मात्रा बहुत थोड़ी होती है। राधाकृष्ण को आलम्बन मानकर हमारे शृङ्गारी कवियों ने अपने कलुषित तथा वासनामय उद्गारों को व्यक्त करने का जो ढंग निकाला वह समाज के लिए हितकर सिद्ध न हुआ। यद्यपि आदर्श की कल्पना करने वाले कुछ साहित्य-समीक्षक इस शृङ्गारिक कविता में भी उच्च आदर्शों की उद्भावना कर लेते हैं, पर फिर भी हम वस्तु-स्थिति की किसी प्रकार अवहेलना नहीं कर सकते। सब प्रकार की शृङ्गारिक कविता ऐसी नहीं है कि उसमें शुद्ध प्रेम का अभाव तथा कलुषित वासनाओं का ही अस्तित्व हो; पर यह स्पष्ट है कि पवित्र भक्ति का उच्च आदर्श समय पाकर लौकिक शरीर-जन्य तथा वासना-मूलक प्रेम में परिणत हो गया था।

भारतीय साहित्य की इन दो प्रधान विशेषताओं का उपर्युक्त विवेचन करके अब हम उसकी दो-एक देशगत विशेषताओं का वर्णन करेंगे।

भारत की शस्य-श्यामला भूमि में जो निसर्ग-सिद्ध सुषमा है, उससे भारतीय कवियों का चिरकाल से अनुराग रहा है। यों तो प्रकृति की साधारण वस्तुएँ भी मनुष्य मात्र के लिए आकर्षक होती हैं, परन्तु उसकी सुन्दरतम विभूतियों में मानव-वृत्तियाँ विशेष

प्रकार से रमती हैं। अरब के कवि मरुस्थल में बहते हुए किसी साधारण-से झरने अथवा ताड़ के लम्बे-लम्बे पेड़ों में ही सौंदर्य का अनुभव कर लेते हैं तथा ऊँटों की चाल में ही सुन्दरता की कल्पना कर लेते हैं; परन्तु जिन्होंने भारत की हिमाच्छादित शैलमाला पर सन्ध्या की सुनहली किरणों की सुषमा देखी है, अथवा जिन्हें घनी अमराइयों की छाया में कल-कल ध्वनि से बहती हुई निर्झरिणी तथा उसकी समीपवर्तिनी लताओं की वसंतश्री देखने का अवसर मिला है, साथ ही जो यहाँ के विशाल-काय हाथियों की मतवाली चाल देख चुके हैं, उन्हें अरब की उपर्युक्त वस्तुओं मे सौन्दर्य तो क्या, हाँ उल्टा नीरसता, शुष्कता और भद्दापन ही मिलेगा। भारतीय कवियों को प्रकृति की सुन्दर गोद मे क्रीड़ा करने का सौभाग्य प्राप्त है। वे हरे-भरे उपवनों में तथा सुन्दर जलाशयों के तटों पर विचरण करते तथा प्रकृति के नाना मनोहारी रूपों से परिचित होते हैं। यही कारण है कि भारतीय कवि प्रकृति से संश्लिष्ट तथा सजीव चित्र जितनी मार्मिकता, उत्तमता तथा अधिकता से अंकित कर सकते हैं और उपमा-उत्प्रेक्षाओं के लिए जैसी सुन्दर वस्तुओं का उपयोग कर सकते हैं, वैसा रूखे-सूखे देशों के निवासी कवि नहीं कर सकते। यह भारत-भूमि की ही विशेषता है कि यहाँ के कवियों का प्रकृति-वर्णन तथा तत्सम्भव सौन्दर्य-ज्ञान उच्चकोटि का होता है।

प्रकृति के रम्य रूपों से तल्लीनता की जो अनुभूति होती है, उसका उपयोग कविगण कभी कभी रहस्यमयी भावनाओं के संचार में भी करते हैं। यह अखण्ड भूमण्डल तथा असंख्य ग्रह-उपग्रह, रवि-शशि, अथवा जल, वायु, अग्नि, आकाश कितने रहस्यमय तथा अज्ञेय हैं; इनकी सृष्टि, संचालन आदि के सम्बन्ध में दार्शनिकों अथवा वैज्ञानिकों ने जिन तत्त्वों का निरूपण किया है, वे ज्ञानगम्य अथवा बुद्धिगम्य होने के कारण नीरस तथा

शुष्क हैं, काव्य-जगत् में इतनी शुष्कता तथा नीरसता से काम नहीं चल सकता, अतः कविगण बुद्धिवाद के चक्कर में पड़कर व्यक्त प्रकृति के नाना रूपों में एक अव्यक्त किन्तु सजीव सत्ता का साक्षात्कार करते तथा उससे भावमग्न होते हैं। इसे हम प्रकृति-सम्बन्धी रहस्यवाद कह सकते हैं और व्यापक रहस्यवाद का एक अंग मान सकते हैं। प्रकृति के विविध रूपों में विविध भावनाओं के उद्रेक की क्षमता होती है, परन्तु रहस्यवादी कवियों को अधिकतर उसके मधुर स्वरूप से प्रयोजन होता है, क्योंकि भावावेश के लिए प्रकृति के मनोहर रूपों की जितनी उपयोगिता है, उतनी दूसरे रूपों की नहीं होती। यद्यपि इस देश की उत्तरकालीन विचारधारा के कारण हिन्दी में बहुत थोड़े रहस्यवादी कवि हुए हैं, परन्तु कुछ प्रेम-प्रधान कवियों ने भारतीय मनोहर दृश्यों की सहायता से अपनी रहस्यमयी उक्तियों को अत्यधिक सरस तथा हृदयग्राही बना दिया है। यह भी हमारे साहित्य की एक देशगत विशेषता है।

ये जातिगत तथा देशगत विशेषताएँ तो हमारे साहित्य के भाव पक्ष की हैं। इनके अतिरिक्त उसके कला-पक्ष में भी कुछ स्थायी जातीय मनोवृत्तियों का प्रतिबिम्ब अवश्य दिखाई देता है। कला-पक्ष से हमारा अभिप्राय केवल शब्द संगठन अथवा छन्द रचना तथा विविध आलंकारिक प्रयोगों से नहीं है, प्रत्युत उसमें भावों को व्यक्त करने की शैली भी सम्मिलित है। यद्यपि प्रत्येक कविता के मूल में कवि का व्यक्तित्व अन्तर्निहित रहता है और आवश्यकता पड़ने पर उस कविता के विश्लेषण द्वारा हम कवि के आदर्शों तथा उसके व्यक्तित्व से परिचित हो सकते हैं, परन्तु साधारणतः हम यह देखते हैं कि कुछ कवियों में प्रथम पुरुष एकवचन के प्रयोग की प्रवृत्ति अधिक होती है तथा कुछ कवि अन्यपुरुष में अपने भाव प्रकट करते हैं।

अँग्रेजी में इसी विभिन्नता के आधार पर कविता के व्यक्तिगत तथा अव्यक्तिगत नामक भेद हुए हैं, परन्तु ये विभेद वास्तव मे कविता के नहीं है, उसकी शैली के हैं। दोनों प्रकार की कविताओं मे कवि के आदर्शों का अभिव्यंजन होता है, इस अभिव्यंजन के ढंग में अन्तर रहता है। एक मे वे आदर्श, आत्म-कथन अथवा आत्म-निवेदन के रूप मे व्यक्त किये जाते हैं तथा दूसरे मे उन्हें व्यजित करने के लिए वर्णनात्मक प्रणाली का आधार ग्रहण किया जाता है। भारतीय कवियों मे दूसरी (वर्णनात्मक) शैली की अधिकता तथा पहली की न्यूनता पाई जाती है। यही कारण है कि यहाँ वर्णनात्मक काव्य अधिक है तथा कुछ भक्त कवियों की रचनाओं के अतिरिक्त उस प्रकार की कविता का अभाव है जिसे गीति-काव्य कहते हैं और जो विशेषकर पदों के रूप मे लिखी जाती है।

साहित्य के कला पक्ष की अन्य महत्त्वपूर्ण जातीय विशेषताओं से परिचित होने के लिए हमे उसके शब्द-समुदाय पर ध्यान देना पड़ेगा, साथ ही भारतीय संगीत-शास्त्र की कुछ साधारण बाते भी जान लेनी होंगी। वाक्य-रचना के विविध भेदों, शब्दगत तथा अर्थगत अलकारों और अक्षर-मात्रिक अथवा लघु-गुरु-मात्रिक आदि छन्द-समुदायों का विवेचन भी उपयोगी हो सकता है। परन्तु एक तो ये विषय इतने विस्तृत हैं कि इन पर यहाँ विचार करना सम्भव नहीं और दूसरे इनका सम्बन्ध साहित्य के इतिहास से उतना पृथक् नहीं है जितना व्याकरण, अलंकार और पिंगल से है। तीसरी बात यह भी है कि इनमे जातीय विशेषताओं की कोई स्पष्ट छाप भी नहीं दीख पड़ती, क्योंकि ये सब बाते थोड़े-बहुत अन्तर से प्रत्येक देश के साहित्य मे पाई जाती हैं।

उत्साह

दुःख की कोटि में जो स्थान भय का है, आनन्द की कोटि में वही स्थान उत्साह का है। भय में हम आगामी दुःख के निश्चय से दुखी और प्रयत्नवान भी होते हैं। मूल दुःख से भय की विभिन्नता प्रयत्नावस्था और अप्रयत्नावस्था दोनों में स्पष्ट दिखाई पड़ती है, पर आगामी सुख के निश्चय का प्रयत्न-शून्य आनन्द कुछ इतना नहीं जान पड़ता। यदि किसी भावी आपत्ति की सूचना पाकर कोई एकदम ठस हो जाय, कुछ भी हाथ-पैर न हिलाए, तो भी उसके दुःख को साधारण दुःख से अलग करके भय की संज्ञा दी जायगी, पर यदि किसी प्रिय मित्र के आने का समाचार पाकर हम चुपचाप आनन्दित होकर बैठे रहें या थोड़ा हँस भी दें तो यह हमारा उत्साह नहीं कहा जायगा। जब हम अपने मित्र का आगमन सुनते ही उठ खड़े होंगे, उससे मिलने के लिए चल पड़ेंगे और उसके ठहरने इत्यादि का प्रबन्ध करने के लिए प्रसन्न-मुख इधर-से-उधर दौड़ते दिखाई देंगे तो यह प्रयत्न या चेष्टा उत्साह का अनिवार्य लक्षण है। प्रयत्न-मिश्रित आनन्द ही का नाम उत्साह है। हँसना, उछलना, कूदना आदि आनन्द के उल्लास की उद्देश्य-विहीन क्रियाओं को प्रयत्न नहीं कह सकते। उद्देश्य से जो क्रिया की जाती है उसको प्रयत्न

कहते हैं। जिसकी प्राप्ति से आनन्द होगा उसकी प्राप्ति के निश्चय से उत्पन्न जिस आनन्द के साथ हम प्राप्ति के साधन में प्रवृत्त होते हैं उसे तो उत्साह कहते ही हैं, उसके अतिरिक्त सुख के निश्चय पर उसके उपभोग की तैयारी या प्रयत्न जिस आनन्द के साथ करते हैं, उसे भी उत्साह कहते हैं। साधन-क्रिया में प्रवृत्त होने की अवस्था में प्राप्ति का निश्चय प्रयत्नाधीन या कुछ अपूर्ण रहता है। उपभोग की तैयारी में प्रवृत्त होने की अवस्था मे प्राप्ति का निश्चय स्व-प्रयत्न से स्वतन्त्र, अतः अधिक पूर्ण रहता है।

पहली अवस्था में यह निश्चय रहता है कि यदि हम यह कार्य करेंगे तो यह सुख प्राप्त होगा। दूसरी में यह निश्चय रहता है कि यह काम हमें प्राप्त होगा अतः हम उसकी प्राप्ति के प्रयत्न में नहीं बल्कि उपभोग के प्रयत्न में प्रवृत्त होते हैं। किसी ने कहा कि तुम यह काम कर दोगे तो तुम्हें यह वस्तु देंगे। इस पर यदि हम उस काम में लग गए तो यह हमारी प्राप्ति का प्रयत्न है। यदि किसी ने कहा कि तुम्हारे अमुक मित्र आ रहे हैं और हम प्रसन्न होकर उनके ठहराने आदि की तैयारी में इधर-उधर दौड़ने लगें तो यह हमारा उपभोग का प्रयत्न या उपक्रम है। कभी-कभी इन दोनों प्रयत्नों की स्थिति पूर्वापर होती है, अर्थात् जिस सुख की प्राप्ति की आशा से हम उत्साहपूर्ण प्रयत्न करते हैं, उसकी प्राप्ति के अत्यन्त निकट आ जाने पर हम उसके उपभोग के उत्साहपूर्ण प्रयत्न मे लगते हैं, फिर जिस क्षण वह सुख प्राप्त हो जाता है उसी क्षण से उत्साह की समाप्ति और मूल आनन्द का आरम्भ हो जाता है।

इस विवरण से मन में यह बात बैठ गई होगी कि जो आनन्द सुख-प्राप्ति के साधन-सम्बन्ध या उपक्रम-सम्बन्ध रखने वाली क्रियाओं में देखा जाता है उसीका नाम उत्साह है। पर

मनुष्य का अन्त करण एक है, इससे यदि वह किसी एक विषय मे उत्साहपूर्ण रहता है तो कभी-कभी अन्य विषयों मे भी उस उत्साह की झलक दिखाई दे जाती है। यदि हम कोई ऐसा कार्य कर रहे हैं जिससे आगामी सुख का पूरा निश्चय है तो हम उस कार्य को उत्साह के साथ करते ही हैं, साथ ही अन्य कार्यों मे भी प्राय अपना उत्साह दिखा देते हैं। यह बात कुछ उत्साह ही में नहीं, अन्य मनोवेगों मे भी बराबर देखी जाती है। यदि हम किसी पर क्रुद्ध बैठे हैं और इसी बीच कोई दूसरा आकर हमसे कोई बात पूछता है तो उस पर भी हम झुँझला उठते हैं, इस झुँझलाहट का कोई निर्दिष्ट लक्ष्य नहीं। यह केवल क्रोध की स्थिति के व्याघात को रोकने की क्रिया है, क्रोध की रक्षा का प्रयत्न है। इस झुँझलाहट द्वारा हम यह प्रकट करते हैं कि हम क्रोध मे हैं और क्रोध ही में रहना चाहते हैं। इस क्रोध को बनाये रखने के लिए हम उन बातों से भी क्रोध ही संग्रह करते है जिनसे दूसरी अवस्था में विपरीत भावों को हम ग्रहण करते है। यदि हमारा चित्त किसी विषय मे उत्साहित है तो हम अन्य विषयों में भी अपना उत्साह प्रकट कर सकते हैं। यदि हमारा मन बढ़ा हुआ है तो हम बहुत से काम प्रसन्नतापूर्वक करने के लिए तैयार हो सकते हैं। इस व्यापार को हम मनोवेगों द्वारा स्वरक्षा का प्रयत्न कह सकते हैं। इसीका विचार करके सलाम करने वाले लोग हाकिमों से मुलाकात करने के पहले अर्दलियों से उनका मिजाज पूछ लिया करते हैं।

उत्साहयुक्त कर्म के साथ ही अनुकूल फल का आरम्भ है, जिसकी प्रेरणा से कर्म में प्रवृत्ति होती है। यदि फल दूर ही पर रखा दिखाई पड़े, उसके परिज्ञान के साथ ही उसका लेश-मात्र भी कर्म या प्रयत्न के साथ-साथ लगा हुआ न मालूम पड़े तो हमारे हाथ-पाँव कभी न उठें और हम फल के साथ हमारा

संयोग ही न हो। इससे किसी फल के अनुभूत्यात्मक अंश का किंचित् संयोग उसी समय से होने लगता है जिस समय से हमें उसकी प्राप्ति की सम्भावना विदित होती है और हम प्रयत्न में अग्रसर होते हैं। यदि हमे यह निश्चय हो कि अमुक स्थान पर जाने से हमे किसी प्रिय व्यक्ति का दर्शन होगा तो हमारे चित्त मे उस निश्चय के फलस्वरूप एक ऐसा आनन्द उमड़ेगा जो हमें बैठा न रहने देगा। हम चल पड़ेंगे और अपने अंग की प्रत्येक गति की प्रफुल्लता के बल पर हम कर्मों की उस शृङ्खला को पार कर सकते हैं जो फल तक पहुँचती है। फल की इच्छा-मात्र में जो प्रयत्न किया जायगा वह अभावमय और आनन्द शून्य होने के कारण स्थायी नहीं होगा। कभी-कभी उसमे इतनी आकुलता होगी कि वह उत्तरोत्तर क्रम का निर्वाह न कर सकने के कारण बीच ही में चूक जायगा। मान लीजिए कि एक ऊँचे पर्वत के शिखर पर विचरते हुए किसी व्यक्ति को बहुत दूर तक गई सीढ़ियाँ दिखाई दीं और यह मालूम हुआ कि नीचे उतरने पर सोने की खान मिलेगी, यदि उसमे इतनी सजीवता है कि इस सूचना के साथ ही वह उस स्वर्ण के साथ एक प्रकार का संयोग अनुभव करने लगा तथा उसका चित्त प्रफुल्ल और शरीर अधिक सचेष्ट हो गया तो उसे एक-एक सीढ़ी स्वर्णमय दिखाई देगी। एक-एक सीढ़ी उतरने मे उसे आनन्द मिलेगा, एक-एक क्षण उसे सुख से बीतता हुआ जान पड़ेगा और वह प्रसन्नता के साथ खान तक पहुँचेगा। उसके प्रयत्न-काल को भी फल-प्राप्ति-काल के अन्तर्गत ही समझना चाहिए। इसके विरुद्ध यदि उसका हृदय दुर्बल होगा और उसमे इच्छा-मात्र ही उत्पन्न होकर रह जायगी तो अभाव के बोध के कारण उसके चित्त में यही होगा कि कैसे झट नीचे पहुँच जाय। उसे एक एक सीढ़ी उतरना बुरा मालूम होगा और आश्चर्य नहीं कि वह या तो हारकर लौट जाय

जो किनारे रहा। पर फल पहले से कोई बना-बनाया तैयार पदार्थ नहीं होता। अनुकूल साधन कर्म के अनुसार इसके अग की एक-एक योजना होती है। इससे बुद्धि द्वारा पूर्ण रूप से निश्चित किये हुए उपयुक्त साधन ही का नाम प्रयत्न है। किसी मनुष्य के घर का कोई प्रिय प्राणी बीमार है। वह वैद्य के यहाँ से जब तक औषधि लाकर रोगी को देता है और इधर उधर दौड धूप करता है, तब तक उसके चित्त मे जो सन्तोष रहता है वह उसे कदापि न प्राप्त होता यदि वह रोकर बैठ रहता। इसके अतिरिक्त रोगी के अच्छे न होने की अवस्था मे भी वह उस आत्म-ग्लानि के कठोर दु ख से बचा रहेगा, जो उसे जीवन-भर यह सोच-सोच-कर होता है कि मैंने पूरा प्रयत्न नहीं किया। कर्म मे आनन्द अनुभव करने वालों ही का नाम कर्मण्य है। धर्म और उदारता के जो महत्कर्म होते हैं उनके अनुष्ठान में एक ऐसा अपार आनन्द भरा रहता है कि कर्ता को वे कर्म ही के फलस्वरूप प्रतीत होते हैं। अत्याचार का दमन करने तथा क्लेश को दूर करने का प्रयत्न करते हुए चित्त मे जो उल्लास और सन्तोष होता है वही लोकोपकारी कर्मवीर का सच्चा सुख है। उसके लिए सुख तब तक के लिए रुका नहीं रहता जब तक कि फल प्राप्त न हो जाय, बल्कि उसी समय से थोडा थोडा करके मिलने लगता है जब वह कार्य आरम्भ करता है।

आशा और उत्साह मे जो अन्तर है उसे विचार लेना चाहिए। आशा मे सुख के निश्चय की अपूर्णता के कारण चेष्टा नहीं होती, पर उत्साह मे क्रिया व चेष्टा का होना जरूरी है। लोग बैठे-बैठे या लेटे-लेटे भी आशा करते हैं, पर उत्साहित होकर कोई पडा नहीं रहता।

७ : : मुन्शी प्रेमचन्द

कहानी

एक आलोचक ने लिखा है कि इतिहास में सब-कुछ यथार्थ होते हुए भी वह असत्य है, और कथा-साहित्य में सब-कुछ काल्पनिक होते हुए भी वह सत्य है।

इस कथन का आशय इसके सिवा और क्या हो सकता है कि इतिहास आदि से अन्त तक हत्या, संग्राम और धोखे का ही प्रदर्शन है, जो असुन्दर है इसलिए असत्य है। लोभ की क्रूर-से-क्रूर, अहंकार की नीच-से-नीच, ईर्ष्या की अधम से-अधम घटनाएँ आपको वहाँ मिलेंगी और आप सोचने लगेंगे, 'मनुष्य इतना अमानुष है! थोड़े-से स्वार्थ के लिए भाई भाई की हत्या कर डालता है, बेटा बाप की हत्या कर डालता है और राजा असंख्य प्रजाओं की हत्या कर डालता है।' उसे पढ़कर मन में ग्लानि होती है आनन्द नहीं, और जो वस्तु आनन्द नहीं प्रदान कर सकती वह सुन्दर नहीं हो सकती, वह सत्य भी नहीं हो सकती। जहाँ आनन्द है वहीं सत्य है। साहित्य काल्पनिक वस्तु है, पर उसका प्रधान गुण है आनन्द प्रदान करना, और इसलिए वह सत्य है।

मनुष्य ने जगत् में जो-कुछ सत्य और सुन्दर पाया और पा

रहा है उसीको साहित्य कहते हैं और कहानी भी साहित्य का एक भाग है।

मनुष्य जाति के लिए मनुष्य ही सबसे विकट पहेली है। वह खुद अपनी समझ में नहीं आता। किसी-न-किसी रूप में वह अपनी ही आलोचना किया करता है, अपने ही मनोरहस्य खोला करता है। मानव-संस्कृति का विकास ही इसलिए हुआ है कि मनुष्य अपने को समझे। अध्यात्म और दर्शन की भाँति साहित्य भी इसी सत्य की खोज में लगा हुआ है—अन्तर इतना ही है कि वह इस उद्योग में रस का मिश्रण करके उसे आनन्दप्रद बना देता है, इसीलिए अध्यात्म और दर्शन केवल ज्ञानियों के लिए हैं और साहित्य मनुष्य-मात्र के लिए।

जैसा हम ऊपर कह चुके हैं, कहानी या आख्यायिका साहित्य का एक प्रधान अंग है—आज से नहीं, आदि काल से ही। हाँ, आजकल की आख्यायिका और प्राचीन काल की आख्यायिका में समय की गति और रुचि के परिवर्तन से बहुत-कुछ अन्तर हो गया है। प्राचीन आख्यायिका कुतूहल-प्रधान होती थी या अध्यात्म-विषयक। उपनिषदों और महाभारत में आध्यात्मिक रहस्यों को समझाने के लिए आख्यायिकाओं का आश्रय लिया गया है। बौद्ध जातक भी आख्यायिका के सिवा और क्या हैं? बाइबल में भी दृष्टान्तों और आख्यायिकाओं द्वारा धर्म के तत्त्व समझाये गए हैं। सत्य इस रूप में आकर साकार हो जाता है और तभी जनता उसे समझती है और उसका व्यवहार करती है।

वर्तमान आख्यायिका मनोवैज्ञानिक विश्लेषण और जीवन के यथार्थ तथा स्वाभाविक चित्रण को अपना ध्येय समझती है। उसमें कल्पना की मात्रा कम, अनुभूतियों की मात्रा अधिक होती है। इतना ही नहीं, बल्कि अनुभूतियाँ ही रचनाशील भावना से अनुरंजित होकर कहानी बन जाती हैं।

कारण सम्पूर्णतः हमारे सामने आ जाता है और जहाँ वह हमारी मानवी न्याय-बुद्धि या अनुभूति का अतिक्रमण करता हुआ पाया जाता है, हम उसे दण्ड देने के लिए तैयार हो जाते हैं। कथा में अगर किसीको सुख प्राप्त होता है तो इसका कारण बताना होगा, दुख भी मिलता है तो उसका कारण बताना होगा। यहाँ कोई चरित्र मर नहीं सकता जब तक कि मानव-न्याय-बुद्धि उसकी मौत न माँगे। स्रष्टा को जनता की अदालत में अपनी हर एक कृति के लिए जवाब देना पड़ेगा। कला का रहस्य भ्रांति है, पर वह भ्रांति जिस पर यथार्थ का आवरण पड़ा हो।

हमें यह स्वीकार कर लेने में संकोच न होना चाहिए कि उपन्यासों ही की तरह आख्यायिका की कला भी हमने पश्चिम से ली है—कम-से-कम इसका आज का विकसित रूप तो पश्चिम का है ही। अनेक कारणों से जीवन की अन्य धाराओं की तरह ही साहित्य में भी हमारी प्रगति रुक गई और हमने प्राचीन से जौ-भर इधर-उधर हटना भी निषिद्ध समझ लिया। साहित्य के लिए प्राचीनों ने जो मर्यादाएँ बाँध दी थीं उनका उल्लंघन करना वर्जित था, अतएव काव्य, नाटक-कथा—किसी में भी हम आगे कदम न बढ़ा सके। कोई वस्तु बहुत सुन्दर होने पर भी अरुचिकर हो जाती है, जब तक कि उसमें कुछ नवीनता न लाई जाय। एक ही तरह के नाटक, एक ही तरह के काव्य पढ़ते-पढ़ते आदमी ऊब जाता है और वह कोई नई चीज चाहता है—चाहे वह उतनी सुन्दर और उत्कृष्ट न हो। हमारे यहाँ तो यह इच्छा उठी ही नहीं, या हमने उसे इतना कुचला कि वह जड़ीभूत हो गई। पश्चिम प्रगति करता रहा—उसे नवीनता की भूख थी और मर्यादा की बेड़ियों से चिढ़। जीवन के हर एक विभाग में उसकी इस अस्थिरता की, असन्तोष की बेड़ियों से मुक्त हो जाने की छाप लगी हुई है। साहित्य में भी उसने क्रान्ति मचा दी।

शेक्सपियर के नाटक अनुपम हैं, पर आज उन नाटकों का जनता के जीवन से कोई सम्बन्ध नहीं। आज के नाटक का उद्देश्य कुछ और है, आदर्श कुछ और है, विषय कुछ और है, शैली कुछ और है। कथा-साहित्य में भी विकास हुआ और उसके विषय में चाहे उतना बड़ा परिवर्तन न हुआ हो, पर शैली तो बिलकुल ही बदल गई। अलिफ लैला उस वक्त का आदर्श था—उसमें बहुरूपता थी, वैचित्र्य था, कुतूहल था, रोमान्स था—पर उसमें जीवन की समस्याएँ न थीं, मनोविज्ञान के रहस्य न थे, अनुभूतियों की इतनी प्रचुरता न थी, जीवन अपने सत्य रूप में इतना स्पष्ट न था। उसका रूपान्तर हुआ और उपन्यास का उदय हुआ, जो कथा और नाटक के बीच की वस्तु है। पुराने दृष्टान्त भी रूपान्तरित होकर कहानी बन गए।

मगर सौ बरस पहले यूरोप भी इस कला से अनभिज्ञ था। बड़े बड़े उच्च कोटि के दार्शनिक, ऐतिहासिक तथा सामाजिक उपन्यास लिखे जाते थे, लेकिन छोटी छोटी कहानियों की ओर किसीका ध्यान न जाता था। हाँ, परियों और भूतों की कहानियाँ लिखी जाती थीं, किन्तु इसी एक शताब्दी के अन्दर या उससे भी कम समझिए, छोटी कहानियों ने साहित्य के और सभी अंगों पर विजय प्राप्त कर ली है, और यह कहना गलत न होगा कि जैसे किसी ज़माने में काव्य ही साहित्यिक अभिव्यक्ति का व्यापक रूप था, वैसे ही आज कहानी है। और उसे यह गौरव प्राप्त हुआ है यूरोप के न जाने कितने महान् कलाकारों की प्रतिभा से, जिनमें बालज़क मोपासाँ, चेख़ॉफ, टॉल्सटॉय, मैक्सिम गोर्की आदि मुख्य हैं। हिन्दी में पच्चीस तीस साल पहले तक कहानी का जन्म न हुआ था। परन्तु आज तो कोई भी ऐसी पत्रिका नहीं जिसमें दो चार कहानियाँ न हों, यहाँ तक कि कई पत्रिकाओं में केवल कहानियाँ ही दी जाती हैं।

कहानियों के इस प्राबल्य का मुख्य कारण आजकल का जीवन-संग्राम और समयाभाव है। अब वह जमाना नहीं रहा कि हम 'बोस्ताने ख़याल' लेकर बैठ जायँ और सारे दिन उसी की कुञ्जों में विचरते रहें। अब तो हम जीवन-संग्राम में इतने तन्मय हो गए हैं कि हमें मनोरंजन के लिए समय ही नहीं मिलता; अगर कुछ मनोरंजन स्वास्थ्य के लिए अनिवार्य न होता और हम विक्षिप्त हुए बिना अठारह घण्टे काम कर सकते, तो शायद हम मनोरंजन का नाम भी न लेते। लेकिन प्रकृति ने हमें विवश कर दिया है; हम चाहते हैं कि थोड़े समय में अधिक-से-अधिक मनोरंजन हो जाय, इसीलिए सिनेमा-गृहों की संख्या दिन-दिन बढ़ती जाती है। जिस उपन्यास के पढ़ने में महीनों लगते, उसका आनन्द हम दो घण्टों में उठा लेते हैं। कहानी के लिए पन्द्रह-बीस मिनट ही काफी हैं, अतएव हम कहानी ऐसी चाहते हैं कि वह थोड़े शब्दों में कही जाय, उसमें एक भी वाक्य, एक भी शब्द अनावश्यक न आने पाए; उसका पहला ही वाक्य मन को आकर्षित कर ले और उसमें कुछ चटपटाहट हो, कुछ ताजगी हो, और इसके साथ ही कुछ तत्त्व भी हो। तत्त्वहीन कहानी से मनोरंजन भले ही हो जाय, पर मानसिक तृप्ति नहीं होती। यह सच है कि हम कहानियों में उपदेश नहीं चाहते, लेकिन विचारों को उत्तेजित करने के लिए, मन के सुन्दर भावों को जाग्रत करने के लिए कुछ-न कुछ अवश्य चाहते हैं। वही कहानी सफल होती है जिसमें इन दोनों में से—मनोरंजन और मानसिक तृप्ति में से—एक अवश्य उपलब्ध हो।

सबसे उत्तम कहानी वह होती है, जिसका आधार किसी मनोवैज्ञानिक सत्य पर हो। साधु पिता का अपने कुव्यसनी पुत्र की दशा से दुखी होना मनोवैज्ञानिक सत्य है। इस आवेग में पिता के मनोवेगों को चित्रित करना और तदनुकूल उसके

व्यवहारों को प्रदर्शित करना, कहानी को आकर्षक बना सकता है। बुरा आदमी भी बिलकुल बुरा नहीं होता, उसमें कहीं-न-कहीं देवता अवश्य छिपा होता है—यह मनोवैज्ञानिक सत्य है। उस देवता को खोलकर दिखा देना सफल आख्यायिका-लेखक का काम है। विपत्ति-पर-विपत्ति पड़ने से मनुष्य कितना दिलेर हो जाता है—यहाँ तक कि वह बड़े-से-बड़े संकट का सामना करने के लिए ताल ठोंककर तैयार हो जाता है, उसकी सारी दुर्वासना भाग जाती है, उसके हृदय के किसी गुप्त स्थान में छिपे हुए जौहर निकल आते हैं और हमें चकित कर देते हैं—यह मनोवैज्ञानिक सत्य है। एक ही घटना या दुर्घटना भिन्न-भिन्न प्रकृति के मनुष्यों को भिन्न-भिन्न रूप से प्रभावित करती है—हम कहानी में इसको सफलता के साथ दिखा सकें, तो कहानी अवश्य आकर्षक होगी। किसी समस्या का समावेश कहानी को आकर्षक बनाने का सबसे उत्तम साधन है। जीवन में ऐसी समस्याएँ नित्य ही उपस्थित होती रहती हैं और उनसे पैदा होने वाला द्वन्द्व आख्यायिका को चमका देता है। सत्यवादी पिता को मालूम होता है कि उसके पुत्र ने हत्या की है। वह उसे न्याय की वेदी पर बलिदान कर दे, या अपने जीवन-सिद्धान्तों की हत्या कर डाले? कितना भीषण द्वन्द्व है! पश्चात्ताप ऐसे द्वन्द्वों का अखण्ड स्रोत है। एक भाई ने अपने दूसरे भाई की सम्पत्ति छल-कपट से अपहरण कर ली है, उसे भिक्षा माँगते देखकर क्या छली भाई को जरा भी पश्चात्ताप न होगा? अगर ऐसा न हो, तो वह मनुष्य नहीं है।

उपन्यासों की भाँति कहानियाँ भी कुछ घटना-प्रधान होती हैं, कुछ चरित्र-प्रधान। चरित्र-प्रधान कहानी का पद ऊँचा समझा जाता है, मगर कहानी में बहुत विस्तृत विश्लेषण की गुञ्जाइश नहीं होती। यहाँ हमारा उद्देश्य सम्पूर्ण मनुष्य को चित्रित करना

नहीं, वरन् उसके चरित्र का अंग दिखाना है। यह परमावश्यक है कि हमारी कहानी से जो परिणाम या तत्त्व निकले वह सर्वमान्य हो और उसमें कुछ बारीकी हो। यह एक साधारण नियम है कि हमें उसी बात में आनन्द आता है जिससे हमारा कुछ सम्बन्ध हो। जुआ खेलने वालों को जो उन्माद और उल्लास होता है वह दर्शक को कदापि नहीं हो सकता। जब हमारे चरित्र इतने सजीव और आकर्षक होते हैं कि पाठक अपने को उनके स्थान पर समझ लेता है, तभी उस कहानी में आनन्द प्राप्त होता है। अगर लेखक ने अपने पात्रों के प्रति पाठक में यह सहानुभूति नहीं उत्पन्न कर दी, तो वह अपने उद्देश्य में असफल है।

पाठकों से यह कहने की जरूरत नहीं है कि इन थोड़े ही दिनों में हिन्दी-कहानी-कला ने कितनी प्रौढ़ता प्राप्त कर ली है। पहले हमारे सामने केवल बंगला कहानियों का नमूना था। अब हम संसार के सभी कहानी-लेखकों की रचनाएँ पढ़ते हैं, उन पर विचार और बहस करते हैं, उनके गुण-दोष निकालते हैं, और उनसे प्रभावित हुए बिना नहीं रह सकते। अब हिन्दी-कहानी-लेखकों में विषय, दृष्टिकोण और शैली का अलग-अलग विकास होने लगा है—कहानी जीवन के बहुत निकट आ गई है, उसकी जमीन अब उतनी लम्बी-चौड़ी नहीं है। उसमें कई रसों, कई चरित्रों और कई घटनाओं के लिए स्थान नहीं रहा। वह अब केवल एक प्रसंग का, आत्मा की झलक का, सजीव हृदय-स्पर्शी चित्रण है। इस एकतथ्यता ने उसमें प्रभाव, आकस्मिकता और तीव्रता भर दी है। अब उसमें व्याख्या का अंश कम, संवेदना का अंश अधिक रहता है। उसकी शैली भी अब प्रवाहमयी हो गई है। लेखक को जो-कुछ कहना है, वह कम-से-कम शब्दों में कह डालना चाहता है। वह अपने चरित्रों के मनोभावों की व्याख्या करने नहीं बैठता, केवल उसकी तरफ इशारा कर देता

है। कभी-कभी तो सम्भाषणों में एक-दो शब्दों से काम निकाल देता है। ऐसे कितने ही अवसर होते हैं जब पात्र के मुँह से एक शब्द सुनकर हम उसके मनोभावों का पूरा अनुमान कर लेते हैं—पूरे वाक्य की जरूरत ही नहीं रहती। अब हम कहानी का मूल्य उसके घटना-विन्यास से नहीं लगाते—हम चाहते हैं पात्रों की मनोगति स्वयं घटनाओं की सृष्टि करे। घटनाओं का कोई महत्त्व ही नहीं रहा। उनका महत्त्व केवल पात्रों के मनोभावों को व्यक्त करने की दृष्टि से ही है—उसी तरह जैसे शालिग्राम स्वतन्त्र रूप से केवल पत्थर का एक गोल टुकड़ा है, लेकिन उपासक की श्रद्धा से प्रतिष्ठित होकर देवता बन जाता है। खुलासा यह कि कहानी का आधार अब घटना नहीं, अनुभूति है। आज लेखक केवल कोई रोचक दृश्य देखकर कहानी लिखने नहीं बैठ जाता। उसका उद्देश्य स्थूल सौन्दर्य नहीं है। वह तो कोई ऐसी प्रेरणा चाहता है जिसमें सौन्दर्य की झलक हो और इसके द्वारा वह पाठक की सुन्दर भावनाओं का स्पर्श कर सके।

नाटकों का आरम्भ

कहा जाता है कि साहित्यिक इतिहास के अनुक्रम में पहले गद्य, तब गीति-काव्य और इसके पीछे महाकाव्य आते हैं; किन्तु प्राचीनतम संचित साहित्य ऋग्वेद छन्दात्मक है। यह ठीक है कि नित्य के व्यवहार में गद्य की ही प्रधानता है, किन्तु आरम्भिक साहित्य-सृष्टि सहज में कण्ठस्थ करने योग्य होनी चाहिए और पद्य इसमें अधिक सहायक होता है। भारतीय वाङ्मय मे सूत्रों की कल्पना भी इसीलिए हुई कि वे गद्य-खण्ड सहज ही स्मृतिगम्य रहें। वैदिक साहित्य के बाद लौकिक साहित्य में भी रामायण तथा महाभारत आदि काव्य माने जाते हैं। इन ग्रन्थों को काव्य मानने पर लौकिक साहित्य में भी पहले-पहल पद्य ही आया, क्योंकि वैदिक साहित्य में भी ऋचाएँ आरम्भ में थीं। फिर तो इस उदाहरण से यह नहीं माना जा सकता कि पहले गद्य, तब गीति-काव्य, फिर महाकाव्य होते हैं।

संस्कृत के आदि-काव्य रामायण में भी नाटकों का उल्लेख है। ये नाटक केवल पद्यात्मक ही रहे हों, ऐसा अनुमान नहीं किया जा सकता। सम्भवतः रामायण-काल के नाटक-संघ बहुत प्राचीन काल से प्रचलित भारतीय वस्तु थे। महाभारत में भी रम्भाभिसार के अभिनय का विशद वर्णन मिलता है। तब इन

पाठ्य-काव्यों से नाट्य-काव्य प्राचीन थे, ऐसा मानने में कोई आपत्ति नहीं हो सकती। भारत के नाट्य शास्त्र में 'अमृत-मथन' और 'त्रिपुर-दाह' नामक नाटकों का उल्लेख मिलता है। भाष्य-कार पतञ्जलि ने 'कंस वध' और 'बलि वध' नामक नाटकों का उल्लेख किया है। इन प्राचीन नाटकों की कोई प्रतिलिपि नहीं मिलती। सम्भव है, अन्य प्राचीन साहित्य की तरह ये सब नाटक नटों को कण्ठस्थ रहे होंगे। कालिदास ने भी जिन भास, सौमिल्ल और कवि-पुत्र आदि नाटककारों का उल्लेख किया है, उनमें से अभी केवल भास के ही नाटक मिले हैं, जिन्हें कुछ लोग ईसा से कई शताब्दी पहले का मानते हैं। नाटकों के सम्बन्ध में लोगों का यह कहना है कि उनके बीज वैदिक संवादों में मिलते हैं। वैदिक काल में भी अभिनय सम्भवतः बड़े-बड़े यज्ञों के अवसर पर होते रहे। एक छोटे-से अभिनय का प्रसंग सोमयाग के अव-सर पर आता है। इसमें तीन पात्र होते थे—यजमान, सोम-विक्रेता और अध्वर्यु। यह ठीक है कि यह याज्ञिक क्रिया है, किन्तु है अभिनय-सी ही, क्योंकि सोमरसिक आत्मवादी इन्द्र के अनुयायी इस योग की योजना करते। सोम राजा का क्रय समा-रोह के साथ होता। सोम राजा के लिए पाँच बार मोल-भाव किया जाता। सोम बेचने वाले प्रायः वनवासी होते। उनसे मोल-भाव करने में पहले पूछा जाता

"सोम विक्रयी, सोम राजा बेचोगे ?"
"बिकेगा।"
"तो लिया जायगा।"
"ले लो।"
"गौ की एक कला से लूँगा।"
"सोम राजा इससे अधिक मूल्य के योग्य है।"

"गौ भी कम महिमा वाली नहीं। इसमें मट्ठा, दूध, घी सब है। अच्छा आठवाँ भाग लो।"

"नहीं, सोम राजा अधिक मूल्यवान् है।"

"तो चौथाई ले लो।"

"नहीं, और मूल्य चाहिए।"

"अच्छा आधी ले लो।"

"अधिक मूल्य चाहिए।"

"अच्छा पूरी गौ ले लो भाई!"

"सोम राजा बिक गए परन्तु और क्या दोगे? सोम का मूल्य समझकर और कुछ दो।"

"स्वर्ण लो, कपड़े लो, छाग लो, गाय के जोड़े, बछड़े वाली गौ, जो चाहो सब दिया जायगा।"

(यह मानो मूल्य से अधिक चाहने वाले को भुलावा देने के लिए अध्वर्यु कहता।)

फिर जब बेचने के लिए वह प्रस्तुत हो जाता तब सोम-विक्रेता को सोना दिखलाकर ललचाते हुए निराश किया जाता। यह अभिनय कुछ काल तक चलता। सूत्र की टीका में कहा गया है कि उस जंगली को छकाकर फिर वह सोना अध्वर्यु यजमान के पास रख देता और उसे एक बकरी दी जाती। सम्भवतः सोना भी उसे दे दिया जाता। तब सोम-विक्रेता यजमान के कपड़ों पर सोम डाल देता। सोम मिल जाने पर यजमान तो कुछ जप करने बैठ जाता, जैसे अब उसका सोम के झगड़े से कोई सम्बन्ध नहीं। सहसा परिवर्तन होता। सोम-विक्रेता से सहसा सोना छीनकर उसकी पीठ पर कोड़े लगाकर भगा दिया जाता। इसके बाद सोम राजा गाड़ी पर घुमाये जाते। फिर सोम-रस के रसिक आनन्द और उल्लास के प्रतीक इन्द्र का आह्वान किया जाता।

देवासुर-संग्राम के बाद इन्द्र-ध्वज के महोत्सव पर देवताओं द्वारा नाटक का प्रारम्भ हुआ। भरत ने, नाट्य के साथ नृत्त का समावेश कैसे हुआ, इसका भी उल्लेख किया है। कदाचित् पहले अभिनयों में—जैसा कि सोमयाग प्रसंग पर होता था—नृत्त की उपयोगिता नहीं थी, किन्तु वैदिक काल के बाद जब आगमवादियों ने रस सिद्धान्त वाले नाटकों को अपने व्यवहार में प्रयुक्त किया तो परमेश्वर के ताण्डव के अनुकरणों में उनकी संवर्द्धना के लिए नृत्त में उल्लास और प्रमोद की पराकाष्ठा देखकर नाटकों में इसकी योजना की।

परमेश्वर की विश्वनृत्त की अनुभूति द्वारा नृत्त को इसीके अनुकरण के आनन्द का साधन बनाया गया। भरत ने लिखा है कि त्रिपुर-दाह के अवसर पर शंकर की आज्ञा से ताण्डव की योजना इसमें की गई। इन बातों से निष्कर्ष यह निकलता है कि नृत्त जो पहले बिना गीत का होता था, उसमें गीत और अभिनय की योजना पीछे से हुई और इसे तब नृत्य कहने लगे। इनका और भी एक भेद है। शुद्ध नृत्त में रेचक और अङ्गहार का ही प्रयोग होता था। गान वाद्य तालानुसार भौंह, हाथ, पैर और कमर का कम्पन नृत्य में होता था। ताण्डव और लास्य नाम के इसके दो भेद और हैं। कुछ लोग समझते हैं कि ताण्डव पुरुषोचित और उद्धत नृत्य को ही कहते हैं, किन्तु यह बात नहीं। इसमें विषय की भी विचित्रता है। ताण्डव-नृत्य प्रायः देव-सम्बन्ध में होता था, और लास्य अपने विषय के अनुसार, लौकिक तथा सुकुमार होता था। नाट्य शास्त्रों में लास्य के जिन दस अङ्गों का वर्णन किया गया है वे प्रयोग में ही भिन्न नहीं होते थे, किन्तु उनके विषयों की भी भिन्नता होती थी। इस तरह नृत्त, नृत्य, ताण्डव और लास्य प्रयोग विषय के अनुसार चार तरह के होते थे। नाटकों में इन सब भेदों का समावेश था। ऐसा जान

पड़ता है कि आरम्भ में नृत्त की योजना पूर्व रंग में देव-स्तुति के साथ होती थी। अभिनय के बीच-बीच में नृत्य करने की प्रथा भी चली, अत्यधिक गीत-नृत्य के लिए अभिनय में भरत ने मना भी किया है।

नाटक के साथ नृत्य की योजना ने अति प्राचीन काल में ही अभिनय को सम्पूर्ण बना दिया था। बौद्ध-काल में भी यह अच्छी तरह भारत-भर में प्रचलित था। विनय-पिटक में इनका उल्लेख है कि कीटागिर की रंगशाला में नर्तकी के साथ मधुर अलाप करने वाले और नाटक देखने वाले अश्वजित् और पुनर्वसु नाम के दो भिक्षुओं को प्रव्राजनीय दण्ड मिला और वे विहार से निर्वासित कर दिये गए।

रंगशाला के आनन्द को दुःखवादी भिक्षु निन्दनीय मानते थे। यद्यपि गायन और नृत्य प्राचीन वैदिक काल से ही भारत में थे, किन्तु अभिनय के साथ इनकी योजना भी भारत में प्राचीन काल से ही हुई थी। इसीलिए यह कहना ठीक नहीं कि भारत में अभिनय कठपुतलियों से आरम्भ हुआ, और न 'महावीरचरित' ही छाया-नाटक के लिए बना। उसमें तो भवभूति ने स्पष्ट ही लिखा है—"ससंदर्भो अभिनेतव्यः।" कठपुतलियों का भी प्रचार सम्भवतः पाठ्य-काव्य के लिए प्रचलित किया गया था। एक व्यक्ति काव्य का पाठ करता था और पुतलियों के छाया-चित्र उसीके साथ दिखलाये जाते थे। मालाबार में अब भी कँवर की रामायण का छाया-नाटक होता है। कठपुतलियों से नाटक आरम्भ होने की कल्पना का आधार सूत्रधार शब्द है। किन्तु सूत्र के लाक्षणिक अर्थ का ही प्रयोग सूत्रधार और सूत्रात्मा जैसे शब्दों में मानना चाहिए। जिसमें अनेक वस्तु ग्रथित हों और जो सूक्ष्मता से सबमें व्याप्त हो उसे सूत्र कहते हैं। कथावस्तु और नाटकीय प्रयोजन के सब उपादानों का जो ठीक ठीक संचालन करता हो

वह सूत्रधार आजकल के डायरेक्टर की ही तरह होता था।

सम्भव है पटाक्षेप और यवनिका आदि के सूत्र भी उसीके हाथ मे रहते हों। सूत्रधार का अवतरण रंगमंच पर सबसे पहले रंगपूजा और मंगल-पाठ के लिए होता था। कथा या वस्तु की सूचना देने का काम स्थापक करता था। रंगमंच की व्यवस्था आदि में यह सूत्रधार का सहकारी रहता था। किन्तु नाटकों में *"नान्द्यते सूत्रधार"* से जान पड़ता है कि पीछे लाघव के लिए सूत्रधार ही स्थापक का काम करने लगा।

हॉ, अभिनवगुप्त ने गद्य पद्य मिश्रित नाटकों के अतिरिक्त राग-काव्य का भी उल्लेख किया है। 'राघव', 'विजन' और 'मारीच-वध' नाम के राग काव्य ठक और ककुभ राग में कदाचित् अभिनय के साथ वाद्य ताल के अनुसार गाए जाते थे। वे प्राचीन राग काव्य ही आजकल की भाषा में गीत नाट्य कहे जाते हैं। इस तरह अति प्राचीन काल से ही नृत्य, अभिनय से सम्पूर्ण नाटक और गीति-नाट्य भारत में प्रचलित थे। वैदिक, बौद्ध तथा रामायण और महाभारत काल में नाटकों का प्रयोग भारत में प्रचलित था।

कला और कृत्रिमता

सम्राट् ने एक महल बनाने की आज्ञा दी—अपने वैभव के अनुरूप, अपूर्व सुख और सुषमा की सीमा।

देश-भर के बड़े-बड़े स्थपतियों का दिमाग उसीका नक्शा तैयार करने में भिड़ गया। नक्शा तैयार हुआ। उसे देखकर सम्राट् फड़क उठे; उनके गर्व को बड़ी मधुर गुदगुदी हुई। जिसका नक्शा पसन्द हुआ था, उसके भाग्य खुल गए।

जिस समय उस महल की तैयारी का चित्र उनके मनोनेत्र के सामने खड़ा हुआ, संसार के बड़े-से-बड़े प्रासाद-निर्माता नरेन्द्र—आर्यावर्त, मिस्र, मय, काबुल, चीन, फारस, ग्रीस, रोम आदि के—तुच्छ मालूम हुए; क्योंकि उन्होंने भव्यता और चारुता का जो प्रदर्शन किया वह इसके आगे कुछ भी न था।

जिन मदों से सम्राट् मत्त हो रहे थे, आज उनमें एक और बढ़ी।

जिस भाग्यवान् स्थपति की कल्पना ने इस भवन की उद्भावना की थी उसके तो पैर ही ज़मीन पर न पड़ते थे। सातवें आसमान की उड़ान में उसे अपनी इस कृति के सिवा अन्यत्र कला दीख ही न पड़ती थी। अस्तु!

संसार-भर की एक-से-एक मूल्यवान् और दुर्लभ सामग्रियों

एकत्र की गई और वह प्रासाद बनने लगा। लाखों वास्तुकार, लाखों शिल्पी काम करने लगे।

नीहार भी इन्हीं में से था। संगतराशों की एक टोली का वह मुखिया था और उसके काम से उसके प्रधान सदैव सन्तुष्ट रहते थे। किन्तु वह अपने काम से सन्तुष्ट न था। उसमें कल्पना थी—जो नक्शे उसे पत्थरों में तराशने को दिये जाते उनमें हेर-फेर और घटाव-बढ़ाव की जो भी आवश्यकता सुरुचि को अभीष्ट होती, उसे तुरन्त भास जाती। परन्तु उसका कर्तव्य था केवल आज्ञा-पालन, अतः यह आज्ञा-पालन वह अपनी उमंग को कुचल-कुचलकर किया करता। पत्थर गढ़ते समय टाँकी से उड़ा हुआ छींटा उसकी आँखों में उतना न कसकता जितनी इन नक्शों की कुघड़ता।

इतना ही नहीं, इस सारे महल की कल्पना ही उसे वास्तु के मूल पुरुष, मय असुर की ठठरी-सी मालूम होती और उस स्थान पर पहुँचते ही उसे ऊजड़, भयावनेपन और बदनुमापन की ऐसी प्रतीति होती कि वह सिहर उठता; मन में कहता—

अच्छा दड़बा खड़ा किया जा रहा है! क्या ढकोसला है?

और, उसकी कल्पना एक दूसरा ही कोमल स्वप्न देखने लगती—

धीरे-धीरे यह चर्चा महाराज के कानों तक पहुँची कि नीहार अपने घर में एक महल बना रहा है—एक छोटा सा नमूना। लोग राज-प्रासाद और इसके सौन्दर्य की तुलना करने लगे हैं कि वह इसके आगे कुछ भी नहीं; इसकी नाजुकता और कौशल अपूर्व है। नगर-भर में इसकी धूम थी।

शर्वीश्वर की भावना को चोट लगी। जिस मूर्ति की वह उपासना कर रहे थे, उस पर जैसे किसी ने आघात किया हो। परन्तु वह उथली प्रकृति के न थे. उनके हृदय में उसे देखने की

इच्छा जाग उठी।

उनके हृदय में कला का जो राजस प्रेम था, वह उन्हें प्रेरित करने लगा; क्योंकि उनसे कहा गया था कि जिस समय वह काम करने लगता है, मग्न हो जाता है, कहाँ क्या हो रहा है, इसकी खबर ही नहीं रह जाती। उसके चारों ओर देखने वालों की भीड़ लगी रहती है। किन्तु, इससे क्या! वह ज्यों-का-त्यों अपने विनोद में लगा रहता है। वह इस तल्लीनता को देखने के लिए उत्सुक हो उठे, अपने को रोक न सके।

एक दिन वह चुपचाप नीहार के यहाँ पहुँचे। दर्शक-समूह सम्राट् को देखकर खड़बड़ाया, किन्तु उनके एक इंगित से सब जहाँ-के-तहाँ शान्त हो गए। चुपचाप सम्मानपूर्वक उन्हें रास्ता दे दिया।

कलावन्त की उस तन्मयता, उस लगन, उस समाधि के देखने में मनुष्य स्वयं तमाशा बन जाता था। महाराज भी वैसे ही रह गए। जिस प्रकार अचेतन यन्त्र चेतन बनकर काम करने लगता है, उसी प्रकार यह चेतन, अचेतन यन्त्र होकर, अपनी धुन में लगा हुआ था। उसीकी कामना के प्राबल्य ने चेतन-अचेतन का भेद मिटा दिया था—तभी न वह पत्थर में जान डाल सकता था।

सम्राट् का स्वप्न विकीर्ण हो गया, जैसे गुलाब की पंखड़ियाँ अलग-अलग होकर उड़-पुड़ जाती हैं। जिस प्रकार शुक्ति में रजत का भ्रम उसी समय तक रहता है जब तक वास्तव में रजत सामने नहीं आ जाता, उसी प्रकार अपने प्रासाद के सम्बन्ध में वह जिस कला के आभास से अभिभूत हो उठे थे, वह प्रकृत कला दीख पड़ते ही जाने कहाँ विलीन हो गया।

विजृम्भा की मूर्ति बने सम्राट् उसे देख रहे थे कि नीहार क्षणेक के लिए किसी कारण अपनी उस निद्रा से जागृत हुआ।

"एक खिलवाड़ है," नाक सिकोड़कर उसने कहा।

"तभी तो इतना आकर्षक है।"

"किन्तु निरर्थक है स्वामी!"

"नहीं, रहस्यमय कह सकते हो। निरर्थक तो कोई वस्तु नहीं। जिसे हम नहीं समझ पाते, उसे निरर्थक कह बैठते हैं।"

"हाँ, भगवन्! किन्तु यदि वही रहस्य दुरूह हो जाता है तो व्यर्थ अवश्य हो जाता है, चाहे निरर्थक न हो।"

"किन्तु, यहाँ तो उसका गूढ़ हो जाना आवश्यक था। वही तो कला है!"

"सेवक की समझ में यह नहीं आया।"

"सुनो। केवल सौन्दर्य की अभिव्यक्ति तो इसके निर्माता का उद्देश्य हुई नहीं। उसे तो एक वस्तु—निवास-स्थान–की रचना करनी थी, किसी सम्राट् की पद-मर्यादा के अनुरूप। अतएव ऐसे भवन के लिए जितने अलंकरण की अपेक्षा थी उसकी इसमें तनिक भी कसर नहीं। किन्तु वहीं तक बस। उससे एक रेखा भी अधिक नहीं; क्योंकि घर तो घर, चाहे कुटी हो या राजमहल; उसका प्रधान उपयोग तो यही है न, कि उसमें जीवन बसेरा ले —पंछी अपना नीड़ भी तो इसी सिद्धान्त पर बनाता है। वह मृग-मरीचिका की तड़क-भड़क वाला पिंजड़ा नहीं बनाता है जो जीवन को बन्दी करके ग्रस लेता है। तुम्हारे और उसके कौशल में भी यही अन्तर है। केवल बाहरी आकर्षण होना ही कला नहीं। उसका रूप प्रसंग के अनुकूल होना ही उसकी चारुता है।"

"नाथ, अपने नन्हेपन के कारण यह ऐसा जान पड़ता है," नम्रता दिखाते हुए उसने सफाई दी।

"अजी, यह न कहो! विशालता तो ऐसी वस्तु है कि वह बहुतेरे दोषों को दाब लेती है। यही नमूना जब पूरे पैमाने पर बनेगा तो और भी खिल उठेगा। तो भी—" उन्होंने हँसकर

कहा, "यदि तुम्हारे जाने, यह अपने नन्हेपन के कारण ही इतना रुचिकर है तो मँगाओ अपना महल वाला वह नन्हा नमूना। दोनों को सामने रखकर तुलना की जाय।

महास्थपति से इसका कोई उत्तर न बना, क्योंकि अब वह जान गया था कि महाराज में जो निगाहदारी ऊँघ रही थी उसे कला की इस प्रकृत वस्तु ने पूर्णतः जगा दिया है, अतः अपनी आलोचना के बीच-बीच वह महाराज की निगाह बचाकर क्षुब्ध दृष्टि से नीहार को भी देखता जाता था। किन्तु अब उसकी वह दृष्टि नीहार पर नहीं पड़ रही थी—अब नत होकर पृथ्वी से करुणा की याञ्चा कर रही थी।

यह दशा देखकर नीहार से न रहा गया। महाराज से उसने कुछ निवेदन करने की आज्ञा ली।

उसने बड़ी शिष्टता से कहा—"देव, वह आचार्य हैं, मैं उनकी चरण-धूलि के समान भी नहीं। उनकी और मेरी कृति की तुलना न्याय्य नहीं है—मल्ल-युद्ध में बराबर के जोड़ छोड़े जाते हैं।"

"परन्तु यह तो प्रतिमा की तुलना है, जो अपने विकास से छोटे को भी बड़े के बराबर बिठा देती है।" महाराज ने गम्भीर होकर कहा और महास्थपति को देखने लगे।

"किन्तु," नीहार दृढ़ता से बोला, "इस प्रसंग में तो एक और सूक्ष्म विचार है, वही उसका मूल कारण है। यदि श्रीमान् उसे सुन लेंगे तो यही आदेश देंगे कि इन दोनों रचनाओं की तुलना उचित नहीं।"

"वह क्या?" महाराज ने उत्सुकता से पूछा।

"यही कि—"कलावन्त के मुँह पर मुस्कान थी, किन्तु उस प्रसंग से नहीं; वही जो उस पर सहज खेला करती थी—"यह कल्पना 'स्वान्त-सुखाय' उपजी है, और वह 'हुकुम पाई' उपजाई गई है। देव, कोई फर्माइश मुझे भी दें तो मेरी कलई आप ही

खुल जाय।"

"बस, बस, अपने महास्थपति को तो तुमने परास्त किया ही था, अपने महाराज को भी हरा दिया।" प्रसन्नता से गद्गद सम्राट् ने कहा।

उसके लिए उनकी आँखों में स्नेह झलक रहा था और महास्थपति की दृष्टि में असीम—केवल असीम ही नहीं—वन्दना भी उमड़ी पड़ती थी।

?० : . श्री वियोगी हरि

प्रेम और विरह

सद्गुरु कबीर की एक साखी है—

बिरह अगनि तन मन जला लागि रहा तत जीव।
कै वा जानें बिरहिनी, कै जिन भेंटा पीव॥

विरह की अग्नि से जब स्थूल और सूक्ष्म दोनों ही शरीर भस्मीभूत हो चुके, तब कहीं इस प्रेमी ... व का उस परम प्रिय तत्त्व से तादात्म्य हुआ। इस ... द्राह का आनन्द

ऊधो, विरहा प्रेम करै ।
ज्यों बिनु पुट पट गहै न रंगहि, पुट गहि रसहि परै ॥

जब तक घड़े ने अपना तन, अपना अहंकार नहीं जला डाला, तब तक कौन उसके हृदय में सुधा-रस भरने आएगा ? विरहाग्नि में जलकर शरीर मानो कुन्दन हो जाता है। मन के वासनात्मक मैल को जलाकर उसे विरह ही निर्मल करता है—

बिरह अगनि जरि कुन्दन होई । निर्मल तन पावै पै सोई ॥

—उसमान

बिना विरह के प्रेम की स्वतन्त्र सत्ता नहीं है, इसी तरह बिना प्रेम के विरह का भी अस्तित्व नहीं है। जहाँ प्रेम है, वहाँ विरह है। प्रेम की आग को विरह-पवन ही प्रज्वलित करता है। प्रेम के अंकुर को विरह-जल ही बढ़ाता है। प्रेम-दीपक की बाती को यह विरह ही उकसाता रहता है।

इसीसे तो कहा गया है कि—

धन सो धन जेहि बिरह-बियोगू । प्रीतम लागि तजै सुख भोगू ।

विरह यदि ऐसा ही सुखदायी है, तो फिर विरही दिन-रात रोया क्यों करता है ? यह न पूछो भाई, विरह की वेदना मधुमय होती है। उसमें रोना भी रुचिकर प्रतीत होता है। अपने बिछुड़े हुए प्यारे का ध्यान आते ही हृदय में एक ज्वाला उठती है, फिर भी वह विरही उसीका ध्यान करता रहता है। प्रेम-रत्न के जौहरी जायसी को इस जलने-भुनने की अच्छी जानकारी थी। उस विरहानुभावी साधक ने क्या अच्छा कहा—

लगिउँ जरै. जरै जस भारू । फिर-फिर भूँजेसि, तजिउँ न बारू ॥

१० : : श्री वियोगी हरि

प्रेम और विरह

सद्गुरु कबीर की एक साखी है—

> *विरह-अगनि तन-मन जला, लागि रहा तत जीव।*
> *कै वा जानैं विरहिनी, कै जिन भेंटा पीव॥*

विरह की अग्नि से जब स्थूल और सूक्ष्म दोनों ही शरीर भस्मीभूत हो चुके, तब कहीं इस प्रेम-विभोर जीव का उस परम प्रिय तत्त्व से तादात्म्य हुआ। इस विरहानल दाह का आनन्द या तो विरहिणी ही लूटती है और या वह सुहागिनी जिसकी अपने वियुक्त प्रियतम से भेंट हो चुकी है। महात्मा कबीर की एक और साखी विरह तत्त्व का समर्थन कर रही है—

> *विरहा कहै कबीर सों, तू जनि छाडै मोहि।*
> *पारब्रह्म के तेज में, तहाँ राखहूँ तोहि॥*

इसमें सन्देह नहीं कि आत्यन्तिक विरहासक्ति ही प्रेम की सबसे ऊँची अवस्था है। प्रेम की परिपुष्टि विरह से ही होती है, विरह एक तरह का पुट है। बिना पुट के वस्त्र पर रंग नहीं चढ़ता। सूरदासजी ने क्या अच्छा कहा है—

र सुरत भी सो रही है। कौन इन्हें जगाए? द्वार पर खड़े स्वामी से कौन इस जीव को मिलाए? विरह ही कसक जगा सकता है, कसक जीव को जगा सकती है और सुरत जीव जगा लेगा। सन्तवर दादूदयाल कहते हैं—

विरह जगावै दरद को, दरद जगावै जीव।
जीव जगावै सुरत को, पंच पुकारै पीव॥

ऐसी महिमा है महात्मा विरह-देव की। प्रिय विरह निश्चय-पूर्वक सुरत और जीव का सद्गुरु है। जिसने इस महा-महिम से गुरु-मन्त्र ले लिया, उसका उसी क्षण प्रेम-देव से तादात्म्य हो गया। जिसने यह दुस्साध्य साध लिया, उसे आत्म-साक्षात्कार हो गया। पर विरहात्मक प्रेम का साधक यहाँ मिलेगा कहाँ? इस लेन-देन को दुनिया मे उसका दर्शन सुलभ है। शायद ही लाख-करोड़ में कहीं एकाध सच्चा विरही देखने मे आए। उसकी पहचान भी बड़ी कठिन है। उसका भेद लेना आसान नहीं। सन्त चरणदास ने विरह-साधना में मतवाली विरहिणी की कैसी सच्ची तसवीर खींची है—

गद्‌गद् वानी कण्ठ में, आँसू टपकें नैन।
वह तो विरहिन राम की, तलफति है दिन-रैन॥
वह विरहिन बौरी भई, जानत ना कोई भेद।
अगनि बरै हियरा जरै, भये कलेजे छेद॥
जाप करै तो पीव का, ध्यान करै तो पीव।
जिव विरहिन का पीव है, पिव विरहिन का जीव॥

वह प्यारे राम की विरहिणी है। उस प्यारे के दीदार की ही उसे चाह है। वह एक प्यासा पपीहा है, एक दरद-रँगीली दीवानी है, व्यथा कैसे कहे—गला भर आया है, आँखों से

भाड़ की जली बालू में अनाज का दाना डालकर कितनी ही बार भूनो, वह बराबर उछलता ही रहेगा, उस प्यारी बालू को छोड़कर बाहर न आएगा। विरह-दाह मे वियुक्त प्रिय का ध्यान चन्दन और कपूर से भी अधिक शीतल लगता है, इसी से उस दाह मे दग्ध होने को विरही प्रेमी का चित्त सदा व्याकुल और अधीर रहा करता है—

जरत पतंग दीप में जैसे, औ' फिरि-फिरि लपटाय।

विरही के रुदन को कोई क्या जाने! मौलाना रूम की रोई बाँसुरी कहती है—"जिसका हृदय वियोग के मारे टुकड़े-टुकड़े न हो गया हो, वह मेरा अभिप्राय कैसे समझ सकता है? यदि मेरी दर्द-भरी दास्ताँ सुननी है, तो पहले अपने दिल को किसी प्यारे के वियोग में टुकड़े-टुकड़े कर दो, फिर मेरे पास आओ, तब मैं बताऊँगी कि मेरी क्या हालत है। मैंने अच्छे-बुरे सभी के पास जाकर अपना रोना रोया, पर किसीने भी ध्यान नहीं दिया—सुना और सुनकर टाल दिया। जिन्होंने सुना और ध्यान न दिया मैं उनको बहरा जानती हूँ, और जिन्होंने चिल्लाते देखा, पर न जाना कि क्यों चिल्ला रही है, मैंने समझ लिया कि वे अन्धे हैं। मेरे रोने के रहस्य को एक वही जान सकता है जो आत्मा की आवाज को सुनता तथा पहचानता है। वास्तव में, मेरा रुदन आत्मा के रुदन से जुदा नहीं।"

तब विरही के रोने को आनन्ददायी क्यों न कहूँ! धन्य है वह प्रेमी जो प्रीतम के वियोग में इस बाँसुरी की तरह दिन-रात रोया करता है—

धन सो धन जेहि विरह-वियोगू। प्रीतम लागि तजै सुख-भोगू॥

युगों से चमक हो रही है। इसीसे जीव भी बेहोश पड़ा

है और सुरत भी सो रही है। कौन इन्हें जगाए? द्वार पर खड़े प्यारे स्वामी से कौन इस जीव को मिलाए? विरह ही कसक को जगा सकता है, कसक जीव को जगा सकती है और सुरत को जीव जगा लेगा। सन्तवर दादूदयाल कहते हैं—

विरह जगावै दरद को, दरद जगावै जीव।
जीव जगावै सुरत को, पच पुकारै पीव॥

ऐसी महिमा है महात्मा विरह-देव की। प्रिय विरह निश्चय-पूर्वक सुरत और जीव का सद्गुरु है। जिसने इस महा-महिम से गुरु-मन्त्र ले लिया, उसका उसी क्षण प्रेम-देव से तादात्म्य हो गया। जिसने यह दुस्साध्य साध लिया, उसे आत्म-साक्षात्कार हो गया। पर विरहात्मक प्रेम का साधक यहाँ मिलेगा कहाँ? इस लेन-देन को दुनिया में उसका दर्शन सुलभ है। शायद ही लाख-करोड़ में कहीं एकाध सच्चा विरही देखने में आए। उसकी पहचान भी बड़ी कठिन है। उसका भेद लेना आसान नहीं। सन्त चरणदास ने विरह-साधना में मतवाली विरहिणी की कैसी सच्ची तसवीर खींची है—

गद्गद् बानी कण्ठ में, आँसू टपकैं नैन।
वह तो विरहिन राम की, तलफति है दिन-रैन॥
वह विरहिन बौरी भई, जानत ना कोई भेद।
अगनि बरै हियरा जरै, भये कलेजे छेद॥
जाप करै तो पीव का, ध्यान करै तो पीव।
जिव विरहिन का पीव है, पिव विरहिन का जीव॥

वह प्यारे राम की विरहिणी है। उस प्यारे के दीदार की ही उसे चाह है। वह एक प्यासा पपीहा है, एक दरद-रँगीली दीवानी है, व्यथा कैसे कहे—गला भर आया है, आँखों से

झरने झरते हैं। दिन-रात बेचारी तड़पती ही रहती है। अरे, वह तो पगली है, पगली—ऐसी पगली कि उसके पागलपन का भेद ही आज तक किसीको नहीं मिला। उस दीवानी के दिल में एक आग बल रही है, जिगर जल रहा है, कलेजे के अन्दर छेद-ही-छेद हो गए हैं। जाप करती है तो प्यारे का, और ध्यान धरती है तो प्यारे का। उस विरहिणी का जीव आज उसका प्रियतम हो रहा है और उसका प्रियतम हो गया है उसका जीव। उस पर प्यारे की छाया पड़ रही है और प्यारे पर जीव की झाईं झलक रही है। 'जीव और पीव' में कैसा गज़ब का तादात्म्य हुआ है!

प्यारे का उसे दिखाई देना क्या था, उससे बिछुड़कर खुद उसे अपने-आपसे भी जुदा कर देना था। मीर साहब ने क्या अच्छा कहा है—

दिखाई दिए यूँ कि बेख़ुद किया,
हमें आपसे भी जुदा कर चले।

खूब दिखाई दिए! अपनी जुदाई के साथ-साथ बेख़ुदी भी हमें देते गए। अच्छा हुआ, एक बला टली। एक मन था, वह भी हाथ से चला गया। मन से भी छुट्टी पा ली। अब मतवाले उस बे-मन वाले की व्यथा जानने आये हैं, पर क्या मोहित का मर्म मोहक समझ सकेगा? कभी नहीं—

का्ह परे बहुतायत में, इक लेने की वेदन जानौ कहा तुम?
हौ मनमोहन, मोहे कहूँ न, बिथा बिमनैन की मानौ कहा तुम?
बौरे बियोगिनि आप सुजान ह्वै हाय कछू उर आनौ कहा तुम?
आरतिवन्त पपीहन को 'घन आनन्द जू' पहिचानौ कहा तुम?

हाँ, सचमुच उस बेदिल का भेद तुम्हें न मिलेगा। क्या हुआ

जो तुम दिलदार हो ? उस दीवाने ने तो हसरते-दीदार पर ही अपने दिल को न्योछावर कर दिया है। अब शायद ही वह तुम्हारा दर्शन कर सके, क्योंकि वह बेचारा प्रेमी, दिल के न होने से, आज ताकते-दीदार भी खो चुका है—

दिल को नियाज़ हसरते दीदार कर चुके,
देखा तो हममें ताक़ते-दीदार भी नहीं।

—ग़ालिब

उसकी इस भारी बेवक़ूफी पर तुम्हें मन-ही-मन हँसी तो ज़रूर आती होगी सरकार ! पर जरा उस बे-दिल की आँखों से देखो, क्या नजर आता है ! वह पागल कहता है कि एक घड़ी तनिक अपने-आपसे बिछुड़कर देखो, आप ही विरह का सब भेद खुल जायगा—

कैसो संजोग वियोग धौं आहि, फिरौ 'घन आनन्द' ह्वै मतवारे।
मो गति बूझि परे तब ही, जब होहु घरीक हू आप ते न्यारे॥

बात यही है कि प्रिय से बिछुड़ना अपने-आपसे बिछुड़ जाना है, और जिसने अपने-आपसे बिछुड़ना नहीं जाना वह उस प्यारे के विरह-रस का अधिकारी ही नहीं है। अरे भाई, हसरते-दीदार पर अपनी ख़ुदी को न्योछावर कर देने वाला ही तो यह कहने का साहस करेगा कि—

विरह-भुवन महँ पैठिकै, किया कलेजे घाव।
विरही अंग न मोड़ि है, ज्यों भावे त्यों खाव॥

—कबीर

कुछ ठिकाना ! कितना साहसी और सूर होता है विरही ! व्यापकता की प्रत्यक्षानुभूति प्रकट करते हैं, या उसकी दृष्टि ही कुछ

ऐसी हो जाती है कि सारा संसार उसे अपने ही समान विरहाकुल दिखाई देता है। विरह-दग्ध की दृष्टि में धुएँ से बादल कोयले की तरह काले हो जाते हैं, राहु-केतु भी झुलस जाते हैं, सूर्य तप्त हो उठता है, चन्द्रमा की कलाएँ जलकर खण्डित हो जाती हैं और पलास के फूल तो अङ्गारे की भाँति उस राग में दहकने लगते हैं। तारे जल-जलकर टूट पड़ते हैं, धरती भी धायँ-धायँ जलने लगती है। हमारे प्रेमी जायसी ने इस विश्व-व्यापी विरह-दाह का कैसा मरमरण वर्णन किया है—

अस परजरा विरह कर गठा। मेघ स्याम भये धूम जो उठा।
दाढ़ा राहु केतु गा दाधा। सूरजु जरा. चाँद जरि आधा॥
औ' सब नखत तराईं जरहीं। टूटहिं लूक, धरती महँ परहीं॥
जरै सो धरती ठावहिं ठाऊँ। दहकि पलास जरै तेहि दाऊँ॥

ये सब उस विरही के दुःख में दुखी न हुए होते, उसके साथ इन सबने समवेदना प्रकट न की होती, तो बेचारा कब तक अकेला ही उस आग में जलता रहता। वह जला और उसने सारी प्रकृति ही दहती हुई देखी। वह रोया और उसने सारे विश्व को अपने साथ फूट-फूटकर रोता हुआ पाया। हाँ, सच तो यह है, उस विरह-दग्ध के रक्ताश्रुओं से आज सभी भीग-भीगकर लाल हो रहे हैं, सभी उसके साथ हृदय का रुधिर आँखों से टपका रहे हैं—

नैननि चली रकत कै धारा। कथा भीजि भयेउ रतनारा॥
सूरज बूड़ि उठा होइ ताता। औ' मजीठ टेसू बन राता॥
डुंगुर भी पहार जो भीजा। पै तुम्हार नहिं रोवँ पसीजा॥

विरही के रक्तमय आँसुओं में सारा संसार रँग गया है।

कैसी करुणा-कलापिनी कल्पना है, विरह की कैसी विशद विश्व-व्यापकता है !

निस्सन्देह प्रिय-विरह समस्त प्रकृति में भर जाता है। अणु-परमाणु तक विरही दिखाई देता है। सूर की एक सूक्ति है—

ऊधो, यदि व्रज विरह बढ्यो।
घर, बाहिर, सरिता, बन, उपवन बल्ली द्रुमन चढ्यो॥
बासर-रैन सधूम भयानक, दिसि-दिसि तिमिर मढ्यो।
द्वन्द्व करत अति प्रबल होत पुर, पय सों अनल उढ्यो॥
जरि किन होत भस्म छिन महियाँ हा, हरि मन्त्र पढ्यो
'सूरदास' प्रभु नंदनन्दन बिनु नाहिन जात कढ्यो॥

जो इस विरहानल से जलते-जलते बच गया, उस पर आश्चर्य होता है—

मधुबन ! तुम कत रहत हरे ?
विरह-वियोग श्यामसुन्दर के ठाड़े क्त न जरे ?

अस्तु, जो भी हृदयवान् होगा, वह अश्वमेध विरही के प्रति सहानुभूति दिखाएगा। हृदयहीन की बात दूसरी है। हृदय की विशालता, सच पूछो तो एक विरही में ही देखी गई है। उसके हृदय में होता है अपने प्यारे का ध्यान, और उस ध्यान में होती है अखिल विश्व की व्यापकता। फिर क्यों न उसके व्यथित हृदय के साथ समस्त सृष्टि समवेदना प्रकट किया करे ? विरह-दशा में सारा संसार ही अपना सगा प्रतीत होने लगता है। सबके सामने हृदय खुला हुआ रखा रहता है। कुछ ऐसा लगा रहता है कि सभी उस प्यारे को प्यार करने वाले हैं, सभी उस दिलवर के दीदार के प्यासे हैं। जिसकी हमें चाह है, इन्हें भी उसीकी है। शायद इन सबको उस लापता का पता भी

मालूम हो। विरहिणी गोपिकाएँ अपने वियुक्त प्रियतम का लापता देख, पशु-पक्षी, मधुप, लता-विटप, नदी, पृथ्वी आदि सभी से पूछ रही हैं—

बिरहाकुल ह्वै गई सबै पूछति बेली बन।
को जड़ को चैतन्य न कछु जानत बिरही जन॥
मालति! हे जाति! जूथके! सुनि हित दै चित।
मान हरन मनहरन लाल गिरधरन लखे इत॥
हे चन्दन दुख-दन्दन, सबकी जरनि जुड़ावहु।
नँद-नन्दन जगनन्दन, चन्दन हमहि बतावहु॥
पूछो री! इन लतनि, फूल रहि फूलनि जोई।
सुन्दर पिय के परस बिना अस फूल न होई॥
हे सखि! ये मृग-बधू इन्हें किन पूछहु अनुसरि।
डहडहे इनके नैन अबहि कहु दखे हैं हरि॥
हे अशोक! हरि शोक लोक-मनि पियहि बतावहु।
अहो पनस! सुभ सरस मरत तिय अमित पियावहु॥
हे जमुना! सब जानि बूझि तुम हठहि गहति हो।
जो जल जग उद्धार ताहि तुम प्रगट बहति हो॥
हे अवनी! नवनीत चोर चित चोर हमारे।
राखे किनहु दुराय बता देउ प्रान पियारे॥

—नन्ददास

भला, पूछो तो, ये ललित लताएँ क्यों फूलों से फूल रही हैं? यह निश्चय है कि बिना प्यारे का स्पर्श किये इनमें ऐसी प्रफुल्लता आ ही नहीं सकती। इन लहलहाती लताओं ने अवश्य ही प्रियतम का स्पर्श-सुख प्राप्त किया है। यही कारण है कि ये फूली नहीं समाती, और ये सुकुमारी मृग-वधूटियाँ? इनकी कैसी डहडही आँखें हैं। अभी-अभी इन सुहागिनियों ने प्यारे

श्यामसुन्दर को कहीं देखा है। बिना नन्दनन्दन की प्यारी-प्यारी झलक पाए नयनों में यह डहडहापन कैसे आ सकता है ?

चाह-भरी चातकी चन्द्रावली भी उस काले छलिया के पास अपनी विरह व्यथा का सदेशा भेजना चाहती है। वह भी आज यह भेद-भाव भूल गई है कि कौन जड है और कौन चैतन्य है। कैसी पगली है—

अहो पौन ! सुख भौन, सबै थल गौन तुम्हारो।
क्यों न कहौ राधिका रौन सों, मौन निवारो॥
अहो भँवर ! तुम स्याम रग मोहप ब्रत धारी।
क्यों न कहौ वा निठुर स्याम सों दसा हमारी ?
हे सारस ! तुम नीके बिछुरन बदन जानौ।
तौ क्यों प्रीतम सों नहिं मेरी दसा बखानौ॥
हे पपिहा ! तुम 'पिउ पिउ पिउ पिउ' रटत सदाई।
आजहु क्यों नहिं रटि रटि कै पिय लहु बुलाई॥

—हरिश्चन्द्र

और नहीं तो पूज्य पवनदेव, कृपा करके मेरा इतना काम तो कर ही दो। जहाँ कहीं भी मेरे प्यारे हों, उनके पैरों की थोड़ी-सी धूल मुझे ला दो। उसे मे इन जलती हुई आँखों मे आँजूँगी। हाँ, विरह व्यथा मे वह प्यारी धूल ही सजीवनी का काम देगी—

बिरह बिथा की मूरि, आँखिन में राखौ पूरि,
धूरि तिन पायन की, हा हा, नेकु आनि दै।

—आनन्दघन

वियोग-शृङ्गार के मुख्य कवि जायसी ने भौंरे और कौए द्वारा एक विरहिणी का सन्देशा उसके प्रियतम के पास बड़ी ही *विदग्धता से भिजवाया है। प्रिय-वियोगिनी केवल इतना ही*

कहलाना चाहती है—

पिउ सों कहेहु सन्देसड़ा, हे भौंरा हे काग।
सो धन बिरहे जरि मुई, तेहिक धुआँ हम्ह लाग॥

इस 'सन्देस' में विश्व-व्यापिनी सहानुभूति की कैसी सुन्दर व्यंजना हुई है!

हाय री प्रिय स्मृति! तब क्या था और अब क्या है! जो कृष्ण कभी आँखों के आगे से न टलते थे, सदा पलकों पर रहते थे, हा! आज उनकी कहानी सुननी पड़ रही है। क्या-से-क्या हो गया है आज!

जा थल कीन्हे बिहार अनेकन, ता थल काँकरी बैठी चुन्यो करैं।
जा रसना सों करी बहु बातन, ता रसना सों चरित्र गुन्यो करैं।
'आलम' जौन से कुंजन में करी केलि तहाँ अब सीस धुन्यो करैं।
नैनन में जो सदा रहते तिनकी अब कान कहानी सुन्यो करैं।

—आलम

हमें और क्या चाहिए? उनसे हम कुछ न माँगेंगी, न जाने वे क्या जानकर संकोच कर रहे हैं। क्यों नहीं आते प्यारे श्याम? क्या कभी न आएँगे हमारे हृदय-रमण कृष्ण?

सखि, क्या कहा? तनिक फिर तो कह, फिर मृदु गिरा सुनूँ तेरी।
सहसा बधिर हो गई हूँ मैं, मिटा मनोज्वाला मेरी॥
पावेगा यह दग्ध हृदय क्या फिर वह रत्न महा अभिराम?
हा हा! पैरों पड़ती हूँ मैं, सच कह, क्या आवेंगे श्याम?

—मधुप

क्या वह इतना भी न जानता होगा कि हम उसकी पगली वियोगिनी हैं ? सुनो—

न कामुका हैं हम राज-वंश की,
न नाम प्यारा यदुनाथ है हमें।
अनन्यता से हम हैं ब्रजेश की,
विरागिनी, पागलिनी, वियोगिनी ॥

—हरिऔध

पथिक ! बीर-वर वियोगी की अजेय सेना से आवृत्त मुझ निस्सहाय का यह अन्तिम सन्देश वहाँ तक ले जाओ। कहना कि उसे अचानक ही सेना ने घेर लिया है। उस शूर-शिरोमणि के विकट कटक का सामना करना आसान नहीं। बचने का अब उपाय भी कोई नहीं है। उसे अब हर तरह से हारा हुआ ही समझो। फिर भी, प्यारे ! तुम्हारे द्वार पर समय रहते, उसकी सुनवाई न हुई, तो वह प्रेम का प्रण पालने वाला विरही, बाहर निकलकर एक मोर्चा तो लेगा ही, और प्रेम के रणांगण पर जूझकर धूल मे मिल जायगा। फिर, प्यारे ! तुम्हारे उस विस्मृत की यह कहानी दुनिया में चल जायगी। तो क्या अब यही कराना चाहते हो ?

राति-द्योस कटक सजेही रहै, दहै दुख,
कहा कहौं गति या वियोग बज मारे की।
लियौ घेरि औचक अकेली कै बिचारौ जीव,
कछु न बसाति यों उपाय बलहारे की ॥
जान प्यारे ! लागो न गुहार तौ जुहार करि,
जूझि है निकसि टेक गहे पन धारे की।
हेत-खेत धूरि, चूरि-चूरि ह्वै मिलैगो, तब,
चलैगी कहानि 'घन-आनन्द' तिहारे की ॥

आकर टुक एक झलक दिखा दो तो अच्छा ही है, नहीं तो मरना तो है ही। तुम्हारे दर्शन की अभिलाषा लिये हुए ही मरेंगे। उस घड़ी भी ये आँखें हसरते-दीदार में खुली रहेंगी। सच मानो प्यारे !

देख्यो एक बारहूँ न नैन भरि तुम्हें, यातें।
जौन-जौन लोक जैहैं तहीं पछितायँगी॥
बिना प्रान प्यारे, भये दरस तुम्हारे, हाय !
देखि लीजो आँखें ये खुली ही रहि जायँगी॥

—हरिश्चन्द्र

कौन आँखें खुली रह जायँगी ? अरे, वही विरागिनी आँखें, जो विरह का कमण्डलु लिये दिन-रात तुम्हारे दर्शन की मधुकरी भीख द्वार-द्वार माँगा करती हैं—

बिरह-कमण्डलु कर लिये, बैरागी दो नैन।
माँगैं दरस-मधुकरी छके रहैं दिन-रैन॥

दे-दे कोई इन योगिनियों को प्रेम नीरस-मधुकरी भिक्षा। नीरस ज्ञान की बातों से इनकी भूख शान्त होने की नहीं।

अँखियाँ हरि दरसन की भूखी।
कैसे रहैं रूप रस राँची, ये बतियाँ सुनि रूखी।

भूल होगी, भारी भूल होगी। तुम्हारे पास अभी क्यों कोई सन्देशा भिजवाया जाय ? क्यों तुम्हें उलाहना दें ? हमारी विरह-दशा अभी पराकाष्ठा को पहुँची ही कहाँ ? अभी तुम्हारी प्यारी याद पर हमने यह घायल दिल कुर्बान नहीं किया। प्यारे, अभी तुम्हारी याद में यहाँ फना हुआ ही क्या है ? विरह तो वह चो

विरह के समस्त अहंकार को प्रियतम की प्रतीक्षा में लय कर दे। सो वह बात अभी यहाँ कहाँ ? तुम्हें यहाँ तक खींच लाने की हमारे दिल में अभी तक वह ताकत ही नहीं आई। पहले अपने दिल के घर में तुम्हारी लगन की आग लगा लें, जो यहाँ का सब-कुछ खाक कर दे, तब कहीं तुम्हारे पास कोई सन्देश भेजें, तब तुम्हारी निठुराई पर तुम्हें उलाहना दें। अभी से यह क्यों कहें कि—

थक गए हम करते-करते इंतज़ार,
एक क़यामत उनका आना हो गया।

तब तक यही हसरत क्यों न दिल में रखी जाय कि—

खुदा करे, मज़ा इंतज़ार का न मिटे;
मेरे सवाल का वह दे जवाब बरसों में।

क्योंकि—

है वस्ल से ज़ियादा मज़ा इंतज़ार का।

मिलने की अपेक्षा प्रिय-मिलन की प्रतीक्षा में कहीं अधिक आनन्द है। खैर, हमारे सवाल का जवाब वह चाहे जब दें, पर उन्हें यह याद जरूर दिलाते रहें कि—

प्रेम-प्रीति को विरवा, गयेउ लगाय,
सींचन की सुधि लीजो, मुरझि न जाय।

—रहीम

इन आँखों ने विरह की एक वेलि बोई है। वह आँसुओं से सींची गई है, और उसकी जड़ अब पाताल तक पहुँच गई है।... कैसी अलौकिक लगन-लता है वह—

मेरे नैना विरह की बेलि बोई।
सींचत नीर नैन के सजनी! मूल पताल गई॥
बिगसति लता सुभाय आपने, छाया सघन भई।
अब कैसे निरवारौं, सजनी? सब तन पसरि छई॥

—सूर

इसे कैसे सुलझाएँ? यह बेलि तो रोम-रोम में उलझ गई इसे लहलही भी कैसे बनाये रखें? हमारे पास अब नयन- (भी तो नहीं है। दोनों नाले आज सूखे पड़े हैं। अरे भाई, ! सींचें इसे?

अरे, हम क्या सींचें इस बेलि को? वही आकर इसे जो सींच जाय, तो शायद यह कुछ लहलही हो जाय—

अबहुँ बेलि फिर पलुहै, जो पिय सींचे आइ।

सच्चे प्रेमियों का वियोग विलक्षण होता है। वियोग होते हुए भी उनमें वियोग नहीं होता। दोनों ही प्रेम की डोरी में बँधे रहते हैं। कितनी ही दूर वे प्रेमी क्यों न चले जायँ, उनके हृदय वैसे ही मिले रहेंगे। प्रेम में जरा भी भी कमी न आएगी। बड़ी अद्भुत है प्रेम की डोरी! प्रेमियों का वियोग भी रहस्यमय है—

अद्भुत डोरी प्रेम की, जा में बाँधे दोय।
ज्यों-ज्यों दूर सिधारिये, त्यों-त्यों लाँबी होय॥

—देवीप्रसाद 'पूर्ण'

एक कहीं है तो दूसरा कहीं है, पर प्रेम के एक ही बाण से दोनों के दिल एक साथ बिंधे हुए हैं। क्या कहें हम इस तीरे-[illegible] को!

हम तड़पते हैं यहाँ पर, वाँ तड़पता यार है;
एक तीरे-इश्क है औ' दो दिलों के पार है।

अब, इसे वियोग कहें या संयोग ? भिन्न होते हुए भी दोनों अभिन्न हैं। सुना जाता है, कि विरही को दयालु दाता ने दो अजीब खिलौने बख्श दिए हैं—आँसू और आह। खूब बहला सकता है इन खिलौनों से वह पगला अपना मचला हुआ दिल। अब और क्या चाहता है ? चाहता क्या है ?—कुछ नहीं। पर उसके पास आज वे मन-बहलाव की चीजें कहाँ ? न आँखों में आँसू हैं न दिल में आह। हाँ, भाई, सच तो कहते हैं—

दर्द अपने हाल से तुझे आगाह क्या करे,
जो साँस भी न ले सके, वह आह क्या करे ?

अब तो आह से भी वह दिल बहलने का नहीं। यही हाल आँसू का भी है। आँखों के वे झरने कभी के बन्द हो गए। अब तो वहाँ सिर्फ एक जलन है, या वह ना-उम्मीदी, जिसके आगे वह जोशे-जुनूँ में मस्त विरही घुटने टेके हुए यह कह रहा है—

सँभलने दे मुझे ऐ ना-उम्मीदी, क्या क़यामत है,
कि दामाने खयाले यार छूटा जाय है मुझसे।

—ग़ालिब

मुझे ज़रा सँभलने तो दे, मेरी ना-उम्मीदी ! बड़ी आफ़त है, क्या करूँ ? मेरे प्यारे का ध्यान रूपी दामन तेरे मारे मेरे हाथ से छूटा जा रहा है।

ओह ! कैसी होगी उस पगले वियोगी की ना-उम्मीदी ! जिसकी बड़ी-से-बड़ी उम्मीद 'मरना' हो, ज़रा उसकी ना-उम्मीदी तो देखो कितनी बड़ी होगी—

मुनहसर मरने पै हो जिसकी उम्मीद,
ना-उम्मीदी उसकी देखा चाहिए।

—गालिब

पर यह ना-उम्मीदी सदा ना-उम्मीदी न रहेगी। इस निराशा से किसी दिन आशा का उदय होगा। मान लो कि विरह की निराशा में एक दिन भी मौत आ जाय, तो भी कुछ बिगडने का नहीं, क्योंकि यह मौत एक असाधारण मौत होगी। वह मौत, मौत की मौत होगी। अजी, कह देना उस घडी—

मौत यह मेरी नहीं, मेरी कज़ा की मौत है,
क्यों डरूँ इससे मैं फिर, मरकर नहीं मरना मुझे।

ठीक है, पर यह बात उठाया करते हैं। क्या सचमुच वे लाग अन्त में मर जाते या मर सकते हैं? इसमें सन्देह नहीं कि वे मरना तो जानते हैं पर मर नहीं सकते, क्योंकि मरना उनके वश का नहीं। उनके प्राणों को एक ओर से तो प्रिय दर्शन प्यारी आँखें रोके रहती हैं और दूसरी ओर से उनका हसरत-भरा घायल दिल! अब बोलो, वे कैसे और कहाँ से निकल जायँ?

नाम पाहरू दिवस निसि, ध्यान तुम्हार कपाट।
लोचन-निज पद-जन्त्रिका, जाहिं प्राण केहि बाट॥

—तुलसी

क्षण मात्र को भी वह ध्यान हृदय से नहीं टलता है—

चलत चितवत दिवस जागत सपन सोवत रात।
हृदय तें वह स्याम मूरति छिन न इत-उत जात॥

—सूर

दिन-रात तुम्हारा नाम पहरा दिया करता है, तुम्हारा ध्यान अन्तर्द्वार का कपाट है और वहाँ तुम्हारे चरणों की ओर लगे नेत्रों ने ताला लगा रखा है, अब बताओ प्राण किस मार्ग से निकले ? प्राण अब भी निकलने को अधीर तो बहुत हो रहे हैं, पर निकले कैसे ? ये हठीली आखें जब उन्हें निकलने दें—

बिरह अगनि तनु तूल समीरा।
स्वास जरइ छन माँह सरीरा॥
नयन स्रवहिं जल निज हित लागी।
जरइ न पाव देह बिरहागी॥

—तुलसी

तुम्हारा विरह अग्नि के समान है। उसमें यह रुई जैसा शरीर एक क्षण ही में जलकर भस्म हो जाय, क्योंकि मेरी साँसों की हवा उस आग को और भी प्रज्वलित कर रही है, पर पापी शरीर जलने नहीं पाता, ये स्वार्थी नेत्र निरन्तर वहाँ जल बरसाते रहते हैं।

कह नहीं सकते कि विरह-अग्नि क्या है—

धनि बिरही औ' धनि हिया जहँ अस अगनि समाइ।

—जायसी

तुरन्त कुछ सैनिक भेजे। सैनिकों ने राजकन्या को घेर लिया। राजकन्या के उद्धार का कोई उपाय न था। उसने भगवान् का स्मरण किया। इसी समय वहाँ एक राजपूत युवक पहुँच गया। उसने मुसलमान सैनिकों को धराशायी करके राजकन्या का उद्धार किया, परन्तु वह स्वय घोर रूप से आहत हो गया। उसकी मृत्यु सन्निकट देखकर राजकन्या विलाप करने लगी, तब उस वीर ने कहा—"बहन, दुःख मत करो। यही तो मेरे लिए सबसे अधिक सुखद काल है। मुझे यही आशीर्वाद दो कि बार बार मैं पृथ्वी पर जन्म लूँ और बार-बार तुम्हारे ही समान कुल-कन्याओं की मान रक्षा मे प्राण विसर्जन करूँ।"

युग परिवर्तित हो जाता है, समय बदल जाता है, पर न तो अत्याचार का दमन होता है और न शौर्य का ह्रास होता है। आधुनिक युग मे भी शौर्य की ऐसी कितनी ही कथाएँ प्रसिद्ध हैं और एक रात को कुसुम ने अपनी सखियों से शौर्य की एक ऐसी ही अपूर्व कथा कही।

(३)

असाढ का महीना था। आकाश मे बादल घिर आए थे। रात हो गई थी। कमला अपनी तीन सखियो के साथ कमरे मे बैठी इधर उधर की बातें कर रही थी। इतने मे उसकी एक सखी तारा उठी। खिड़की खोलकर उसने बाहर दृष्टिपात किया। बाहर घना अँधेरा था। उसने कहा—"कमला, कैसा विकट अन्धकार है। ऐसे अन्धकार मे यदि मुझको बाहर जाने की जरूरत पड़ती तो मैं डर के मारे ही मर जाती।" उसकी बात सुनकर कमला उठ आई और उसके साथ कुसुम भी आ गई। तीनों खिड़की से बाहर झाँकने लगीं। इतने मे वर्षा आरम्भ हो गई, पवन बड़े वेग से बहने लगा। कमला ने खिड़की को बन्द करना चाहा। तारा ने कहा—"जरा ठहरो। मुझे रात के इस विकट दृश्य में भी एक

प्रकार का उल्लास होता है।" इतने में एक मोटर उधर से निकल गई। ऐसा जान पड़ता था मानो अन्धकार के राज्य से कोई एक विलक्षण पशु सहसा चीत्कार करता निकल पड़ा हो। कुसुम चौंक उठी और क्षण-भर उसी मोटर की ओर ताकती रही।

कमला ने हँसकर कहा—"बहन, तुम दोनों ही विलक्षण हो। एक तो रात के विकट दृश्य को देखकर प्रसन्न हो रही है और दूसरी मोटर की ओर ऐसी स्थिर दृष्टि से देख रही है, मानो उसने कभी जीवन में मोटर ही न देखी हो। तुम दोनों की भावुकता के कारण पानी की बौछार में ही सह रही हूँ। अब तो खिड़की बन्द करने दो।"

"लो, खिड़की बन्द कर लो।" कहकर दोनों खिड़की से हट आईं। कमला ने खिड़की बन्द कर दी। फिर वह भी उन्हीं के साथ बैठ गई।

कुसुम ने पूछा, "बहन, आज कौनसी तिथि है?"

कमला ने कहा, "आज सप्तमी है।"

कुसुम कहने लगी, "आज ठीक पाँच वर्ष हो गए। ऐसी ही असाढ़ की रात थी, ऐसा ही विकट अँधेरा था, ऐसी ही वर्षा हो रही थी, और ऐसे ही मोटर में बैठकर विमला मेरे घर आई थी। आज भी जब मैं उस दिन को याद करती हूँ तब मेरे हृदय में एक आतङ्क-सा छा जाता है।

कमला ने पूछा, "बहन, यह तो तुम कोई कहानी-सी सुना रही हो। विमला कौन थी, और वह घटना क्या थी जिसका स्मरण करके तुम्हें अभी तक आतङ्क-सा होता है?"

कुसुम कहने लगी, "कहानी नहीं सुना रही हूँ। सच्ची घटना ही बतला रही हूँ। ऐसी घटना तुमने कहीं भी न सुनी होगी।"

कमला ने उत्सुकता से पूछा, "बतलाओ न, वह क्या बात थी?"

कुसुम कहने लगी, "अच्छा लो सुनो। तुम जानती हो कि मैं वसन्तपुर मे अपने मामा के यहाँ बाल्य काल मे रहा करती थी। वहीं मेरे एक नाते के भाई रहते थे। उनका नाम था गोपाल। वह कलकत्ता और रायपुर दोनों जगह काम करते थे। मोटर चलाने मे वह प्रवीण हो गए थे। इसीलिए जिस सेठ के यहाँ वह नौकर थे, उनकी मोटर को भी वह चलाया करते थे। उन्हीं से मुझे उस दिन की घटना का पूरा रहस्य मालूम हुआ था। मैं तुम्हें आदि से अन्त तक की पूरी बाते बतलाती हूँ—

"रायपुर मे हरिदास नाम का एक ब्राह्मण लड़का था। वह कॉलेज मे पढ रहा था। उसके घर की बिलकुल साधारण स्थिति थी। उसकी एक छ- वर्ष की छोटी बहन थी। उसका नाम था विमला। एक दिन अचानक हैजे मे हरिदास के माता-पिता दोनों की मृत्यु हो गई। तब हरिदास पर ही घर का सारा बोझ आ गया। वह स्वय बीस वर्ष का नवयुवक था। अपनी छः वर्ष की छोटी बहन का लालन-पालन करना उसके लिए असम्भव था। रायपुर से कुछ दूर नवा गाँव नामक एक स्थान था। वहाँ उसकी एक विधवा बुआ रहती थी। हरिदास ने सोचा कि बहन को उसी के सरक्षण मे छोड़कर मैं कहीं दूसरी जगह खोजूँ। वह अपनी बुआ के पास गया। उसकी बुआ थी तो गरीब, पर वह बड़ी स्नेहशीला थी। उसने प्रेम से विमला को रख लिया। हरिदास जीवन-निर्वाह के लिए कलकत्ता चला गया। मेरे भाई गोपाल से उसकी मैत्री थी। उन्हीं की सिफारिश से कलकत्ता के एक सेठ ने उसको अपने यहाँ नौकर रख लिया।

"हरिदास जैसा परिश्रमी था, वैसा ही अपने कार्य मे निपुण भी। कुछ ही दिनों में उसने अपने स्वामी को प्रसन्न कर लिया। वह प्रति मास अपनी बुआ को चालीस रुपये भेज देता था। चार-पाँच वर्ष के बाद हरिदास के स्वामी सेठ ने बर्मा मे एक

कारखाना खोलने का निश्चय किया। कारखाना खोल लेने के बाद उन्हें एक विश्वासपात्र आदमी की आवश्यकता हुई, जो उसकी देख-रेख कर सके। लाखों रुपयों का व्यवसाय था, इसलिए वह ऐसे ही आदमी को भेजना चाहते थे, जिस पर उनका पूरा विश्वास हो और जो उस कार्य के योग्य भी हो। खूब सोच-विचार कर उन्होंने हरिदास को ही उस काम के लिए चुना।

"हरिदास को उनके यहाँ काम करते-करते सात वर्ष हो गए थे। वह पहले तो हिचकिचाया। घर छोड़कर इतनी दूर जाना उसे पसन्द नहीं था। पर उसे एक बात की चिन्ता अवश्य थी। उसकी बहन जो तेरह-चौदह वर्ष की हो गई थी, दो-एक वर्ष बाद उसका विवाह करना ही पड़ेगा। कुल-मर्यादा की रक्षा के लिए यह आवश्यक था कि उसका विवाह किसी अच्छे घर में हो। हरिदास स्वयं नहीं चाहता था कि वह अपनी मातृ-पितृहीन बहन का विवाह किसी साधारण व्यक्ति से कर दे। उसने एक लड़का पसन्द कर लिया था, पर वह यह जानता था कि उस लड़के के साथ बहन का विवाह करने के लिए उसे पाँच हजार रुपयों की आवश्यकता होगी।

"उसने सेठ के प्रस्ताव को इसी शर्त पर स्वीकार किया कि काम को सफलतापूर्वक चला देने के बाद वह सेठजी से पाँच हजार रुपये ले लेगा। सेठजी ने उसकी इस शर्त को सहर्ष स्वीकार कर लिया। सब बातें निश्चित हो जाने के बाद हरिदास अपनी बुआ के पास गया। वहाँ उसने बुआ को सब बातें बतला दीं। स्थिति को समझकर बुआ ने भी अनुमति दे दी। केवल विमला रोने लगी। उसको किसी तरह समझा-बुझा और सान्त्वना देकर हरिदास बर्मा चला गया।

"विमला बड़ी सुन्दर लड़की थी। अल्पावस्था में ही माता और पिता दोनों के स्नेह से वह वंचित हो गई थी। परन्तु उसके

भाई ने कभी इस बात का अनुभव नहीं होने दिया कि वह मातृ-पितृहीन है। किसी सम्पन्न घर की लड़की का जैसा लालन-पालन हो सकता है, वैसा ही लालन-पालन उसका हुआ। उसे कभी किसी वस्तु का अभाव ही नहीं अनुभव हुआ। गाँव में रहकर जितनी शिक्षा किसी कन्या को दी जा सकती थी, उतनी अच्छी शिक्षा उसे मिली। उसके रूप, शील और स्वभाव की सभी प्रशंसा करते थे। यह भी पत्र द्वारा प्राय: निश्चित हो चुका था कि उसका विवाह बिलासपुर के एक उच्चकुल-सम्भूत शिक्षित नवयुवक से होगा। वह युवक इलाहाबाद मे उच्च शिक्षा प्राप्त कर रहा था। उसका नाम था हरिमोहन।

"तीन वर्ष व्यतीत हो गए। विमला सोलह वर्ष की हो गई, उसकी बुआ को उसके विवाह की चिन्ता हुई। उसने हरिदास को पत्र लिखा। हरिदास ने भी अपने सेठ से अनुमति माँगी। सेठजी उसकी सेवा से सन्तुष्ट थे। उनका कारखाना अच्छी तरह चल रहा था। उन्होंने पाँच हजार रुपया देना स्वीकार किया। सेठजी का पत्र पाकर हरिदास घर लौटने की तैयारी करने लगा।

"मनुष्य के जीवन मे न जाने कौन अदृष्ट शक्ति काम करती है, जिसके कारण जो बात हम लोग कभी सोचते तक नहीं, वही हो जाती है। ऐसा जान पडता है कि मनुष्य का सारा जीवन विधाता के इंगित पर ही चलता है। नवागाँव में एक जमींदार रहते थे। उनकी उम्र थी पैंतालीस वर्ष की। उन्हें अपनी प्रभुता का गर्व था, धर्म का अहङ्कार था और शक्ति का दम्भ। उनके समान क्रूर व्यक्ति कुछ ही होंगे। आसपास के सभी लोग उनसे त्रस्त थे, सभी उनका नाम सुनकर काँप जाते थे। वह शराब पीते थे और दिन-रात विलासिता में डूबे रहते थे। आश्चर्य की बात तो यह थी कि सभी दुर्गुणों से युक्त रह-कर भी जमींदार साहब अच्छे-अच्छे लोगों के आदर-पात्र थे।

बड़े-बड़े नगरों तक में उनकी प्रतिष्ठा थी। बड़े-बड़े लोग भी उनका सम्मान करते थे। अकस्मात् विधि की प्रेरणा से उनकी स्त्री का देहान्त हो गया और तेरह दिन के बाद ही जमींदार साहब ने यह निश्चय किया कि वह दूसरा विवाह करेंगे। स्व-जातीय लड़कियों की खोज होने लगी। सहसा उनकी दृष्टि अपने ही गाँव की लड़की विमला पर पड़ी। विमला उनकी जाति की थी। जमींदार उसके रूप पर मुग्ध हो गए। उन्होंने तुरन्त एक ब्राह्मण को विमला की बुआ के पास भेजा। उसका परिणाम वही हुआ जो होना चाहिए।"

यहाँ तक कहकर कुसुम रुक गई। तारा और कमला ने बड़ी अधीरता से पूछा, "तो क्या विमला का विवाह उसी अत्याचारी जमींदार के साथ हो गया?"

कुसुम कहने लगी, "नहीं बहन, यह साधारण घटना नहीं है। संसार में अत्याचार और अन्याय होते ही हैं। उन अत्याचारों और अन्यायों का न्याय पृथ्वी के न्यायालय में नहीं होता। भगवान जाने किस लोक में उन पर विचार करते हैं और न जाने वे क्या निर्णय करते हैं। पृथ्वी पर तो प्रायः अधर्म और अन्याय की ही विजय होती है।"

तारा ने पूछा, "उसके बाद क्या हुआ? बुआ ने जमींदार को क्या उत्तर दिया?"

कुसुम कहने लगी, "बुआ ने जमींदार के प्रस्ताव को अस्वीकार कर दिया। उसने ब्राह्मण को स्पष्ट शब्दों में बतला दिया कि विमला का विवाह दूसरी जगह निश्चित हो गया है और कुछ ही दिनों के बाद उसके भाई के आ जाने पर यह शुभ कार्य सम्पन्न हो जायगा। ब्राह्मण ने जब जमींदार को यह बात सुनाई तब वह क्रोध से जल उठे। उनके तीन मुसाहिब मित्र थे। उनसे उन्होंने अपनी इच्छा प्रकट की। तीनों ने यह राय दी कि

उसी लडकी से उनका विवाह होना चाहिए। जमींदार की ओर से बुआ को तरह-तरह के प्रलोभन दिये गए। उसके बाद उसे डर दिखाया गया। परन्तु वह किसी प्रकार राजी न हुई। तब जमींदार ने यह निश्चय किया कि जबरदस्ती उस लडकी को पकड़कर हम घर मे ले आएँ और उसके साथ विवाह कर ले। गॉव में ऐसा कोई नहीं था जो उनका विरोध कर सकता।

"दूसरे दिन गॉव मे कितने ही घरों मे जमींदार की ओर से निमन्त्रण दिया गया। विमला के घर भी निमन्त्रण पहुँचा। विमला की बुआ जमींदार के अत्याचारों को जानती थी। पर उसने स्वप्न मे भी यह न सोचा था कि निमन्त्रण के बहाने बुलाकर जमींदार उसे और उसकी विमला को कैद कर लेगा। इसीलिए इच्छा न होने पर भी झगडा न बढाने के लिए उसने जमींदार के निमन्त्रण को स्वीकार कर लिया।

"मकान के भीतर पहुँचते ही दासियों ने उसको और विमला को जमींदार के आदेश के अनुसार एक पृथक् कमरे मे बिठा दिया। इसके बाद उसको सारा रहस्य ज्ञात हो गया। विमला रोने लगी। बुआ ने उसे सान्त्वना देते हुए कहा—'बेटी, अधीर मत हो। अगर संसार मे कहीं ईश्वर है तो वह हमारी रक्षा अवश्य करेगा।' उसने विमला को तो किसी तरह समझा लिया पर वह स्वयं जानती थी कि वह किसी भी प्रकार जमींदार के विरुद्ध कुछ नहीं कर सकती।

"उसी दिन हरिदास जहाज से कलकत्ता पहुँचा। उसके हृदय मे बडी उमग थी, बडा उल्लास था। अपने सेठ से वह पॉच हजार रुपये पा गया था। आवश्यक गहने और कपडे खरीदकर वह बडी निश्चिन्तता से बाजार मे घूम रहा था। सहसा अपने गॉव के एक व्यक्ति से उसकी भेंट हो गई। उससे उसे जमींदार की करतूत ज्ञात हुई। सब सुनकर वह क्षण-भर

के लिए स्तब्ध हो गया। कलकत्ता से नवागाँव काफी दूर था। कुछ देर तक वह खड़ा-खड़ा सोचता रहा। इसके बाद मेरे भाई गोपाल के पास पहुँचा। गोपाल ने तुरन्त उसे अपनी मोटर में बिठाया और दोनों नवागाँव की ओर रवाना हुए।

"कैसे वह लम्बी यात्रा समाप्त हुई यह बताने की आवश्यकता नहीं। वे लोग दस बजे रात को नवागाँव पहुँच गए। दोनों सीधे जमींदार के कमरे में घुस गए। जमींदार अपने तीनों मुसाहिबों के साथ बैठा शराब पी रहा था। इन दोनों को देखते ही वे उठ खड़े हुए। हरिदास ने जमींदार का हाथ पकड़कर कहा—'अभी मेरी बहन और बुआ को घर से बाहर कर।' जमींदार ने उत्तर में उसको गालियाँ दीं। उसने फिर जमींदार से कहा, 'सुन, तू चुपचाप मेरी बहन और बुआ को घर से बाहर कर दे, नहीं तो ठीक नहीं होगा।' 'नहीं तो क्या करेगा साले' कहकर जमींदार उस पर झपट पड़ा और उसके मुसाहिब भी उस पर झपटे। उसने जेब से पिस्तौल निकालकर एक ही गोली से जमींदार का काम तमाम कर दिया। दूसरा मुसाहिब, जो उस पर झपटा था, वह भी गोली खाकर धराशायी हुआ। तीसरा डरकर भागने लगा। हरिदास ने पकड़कर कहा, 'चल, जहाँ मेरी बहन और बुआ है वहीं मुझे ले चल।' काँपता हुआ वह आगे-आगे गया और हरिदास पीछे-पीछे। थोड़ी देर में वह अपनी बहन और बुआ को लेकर लौटा। इसके बाद सब मोटर में बैठकर वसन्तपुर आये। मैं भी उस समय वहीं थी। विमला और उसकी बुआ को किसी बात का पता न था।"

कहकर कुसुम क्षण-भर रुक गई। तारा अधीर होकर कहने लगी, "बहन, आगे क्या हुआ, जल्दी बताओ।"

कुसुम ने बड़ी गम्भीरता से कहा, "बहन, ठहर। मेरा गला रुँध सा गया है।" इसके बाद वह पानी पीकर फिर कहने

लगी, "हरिदास ने स्वयं जाकर पुलिस-स्टेशन में सारी बातें बतला दीं। मुकदमा चलाकर उसे प्राण-दण्ड नहीं हुआ। उसे काले पानी की सजा हुई और वहीं उसकी मृत्यु।"

तारा ने पूछा, "और विमला ?"

कुसुम ने कहा, "विमला का विवाह उसी युवक से हुआ। वह अब इलाहाबाद में है।"

इसके बाद सब चुप हो गईं। रात्रि के उस निविड़ अन्धकार में, उस घोर निस्तब्धता में, उन्हें ऐसा जान पड़ा मानो वे इस लोक में नहीं किसी अन्य लोक में पहुँच गई हैं। रह-रहकर विद्युत् चमक उठती थी, रह-रहकर बादल गरज उठता था, रह-रहकर पवन के प्रचण्ड झोंके दरवाजे पर आघात करते थे, पर उन तीनों में से किसीका भी ध्यान उनकी ओर नहीं गया। वे न जाने किस चिन्ता में डूब गईं, न जाने किस विचार-स्रोत में निमग्न हो गईं।

अतीत स्मृति

बीहड़ वन है। सारे जंगल में काँटों से लदे हुए वृक्ष खड़े हैं। झाड़ियाँ इतनी घनी हैं कि पुराने मार्ग अब बन्द हो गए हैं। जंगल को देखकर प्रतीत होता है कि वहाँ भीषण जीवन-संग्राम हो चुका है। इसी जंगल के एक स्थान पर कुछ खुला हुआ स्थान है। वहाँ झाड़ियाँ नहीं हैं, एक गोलाकार मैदान है, जिस पर हरी हरी दूब लगी हुई है। इधर-उधर एक-आध छोटे पौधे भी हैं और बीच में एक वृहद्‌काय वृक्ष खड़ा है, जिसके मस्तक पर एक ही पुष्प खिला हुआ है। वृक्ष बहुत ऊँचा है। उस पर का पुष्प विकसित होने पर भी पूरा खिला हुआ नहीं है। ऐसा ज्ञात होता है कि उच्च स्थान पर स्थित होने के कारण सकुचा-सा गया है। उस पुष्प से एक अतीव मनोहारी भीनी-भीनी सुगन्ध बह रही है। इस सुगन्ध से वही एक स्थान नहीं, सारा जंगल सुवासित हो रहा है। उस जंगल में प्रवेश करते ही वह सुवास प्रत्येक पथिक तक पहुँच जाती है और एक अज्ञात आकर्षण उसे वहाँ तक खींच लाता है; परन्तु उस स्थान तक पहुँचने में उसे अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। मार्ग की घनी झाड़ियों का उल्लंघन, उनसे बचना, एक समस्या

है; परन्तु इन कठिनाइयों का पता पथिक को पहले नहीं लगता। कारण, उस पुष्प की सुगन्ध उसके पास पहुँचकर मस्त कर देती है। जिस प्रकार वहेलिए के मृदुल संगीत पर मृग अनजाने अपनी मृत्यु के द्वार पर पहुँच जाता है, उसी प्रकार मादकता के छा जाते ही पथिक यह भूल जाता है कि उस सुवास के केन्द्र-पुष्प तक पहुँचने का मार्ग कंटकाकीर्ण है। अन्त में उस स्थान पर जाकर पथिक पड़ रहता है और जब तक तृप्ति नहीं होती और उसकी मादकता नहीं हटती, वह उन्मत्त उस सुवास से अभिभूत रहता है। कंटकमय वन में निष्कंटक स्थान को देखकर यही प्रतीत होता है कि उस सुन्दर पुष्प और उसकी सुवास के कारण ही वहाँ कोई झाड़ी नहीं रहने पाई।

बहुत दिन बीत गए। समय के प्रभाव से वह पुष्प भी गिर पड़ा। वह वृक्ष भी जरा-जीर्ण होकर सूख गया। इसी समय एक माली आया जो स्वयं को बड़ा ही चतुर समझता था। उसने उस बीहड़ वन को एक सुरम्य उद्यान में परिवर्तित करने का प्रयत्न किया। इस कार्य में उसको कहाँ तक सफलता प्राप्त हुई, यह कहना हमारे लिए असम्भव है। हाँ, जहाँ पहले मार्ग बन्द हो गए थे, जाने को राह तक न थी, वहाँ अब लम्बी-चौड़ी सड़कें बन गईं। जहाँ सारे वन में एक प्रकार की महान दुर्व्यवस्था थी, जहाँ प्रकृति इच्छापूर्वक पथ तथा विपथ में वृक्ष उगाती थी, वहाँ अब एक प्रकार का क्रम, व्यवस्था तथा नियम पाया जाता है। माली ने प्रकृति को नियमबद्ध कर दिया, अनेक वृक्षों को काट-छाँटकर नवीन रूप दे दिया। अपने पास के बीजों को भी बोया और नवीन प्रकार के वृक्ष उगा दिए। कई प्रकार के पुष्प खिले, अपना रंग लाए, उन्हें देखते ही एक विचित्र मनोमुग्धकारी दृश्य उपस्थित हो जाता था। इन पुष्पों में भी एक निराली सुगन्ध थी।

पर आह! यह क्या? जो पुष्प उस बीहड़ वन में खिला था,

उसका सौरभ अब तक नहीं गया, वह अब भी फैल रहा है। समय के साथ वह पुष्प मुरझा गया, सूखकर गिर गया, समय ने उसको नष्ट कर दिया; परन्तु वह उसकी सुवास को नष्ट न कर पाया। माली ने भी प्रयत्न किया कि इस वन में ऐसे पुष्प खिलें, जो इस पुष्प की सुगन्ध को दबा दें, जो उससे भी अधिक मोहक हों। वह प्रत्येक निष्फलता के साथ अधिकाधिक उत्साहित होकर सुगन्धित-से-सुगन्धित पुष्पों वाले वृक्षों को उगाता था।

एक दिन एक पथिक इस वन की ओर से आ निकला; उसी पुरानी सुवास ने उस पर अधिकार जमाया। वह खिंचा हुआ एक दिशा में जाने लगा, तन-मन का सब ध्यान भूल गया। एकाएक किसीने उसे रोका, वह चौंक पड़ा।

"कई पौधे रौंद डाले, मार्ग छोड़कर चल रहे हो, क्या सारा उपवन उजाड़ देना चाहते हो?"

"नहीं, नहीं, मैं कुछ नहीं जानता, तुमने जब तक मुझे नहीं रोका, तब तक मैं एक प्रकार से उन्मत्त था, बेहोश था।"

"क्या नशे में हो?"

"नशा! मैं किसी भी मादक वस्तु का सेवन नहीं करता। एक मनोहर सुवास आती थी, उसीका उद्गम खोज रहा हूँ। बड़ी ही मादक सुगन्ध है। वह वृक्ष कहाँ है, जिसकी सुगन्ध ऐसी मादक है? तुम बड़े ही चतुर माली जान पड़ते हो।"

"आओ पथिक, मैंने कई नये-नये वृक्ष इस उपवन में लगाये हैं, जिनका पहले यहाँ पता भी नहीं था। उनके पुष्प कितने मोहक, कितने सुगन्धित हैं, सूँघकर देखो तो! देखो, यह कैसा सुन्दर पौधा है!"

"नहीं, वह सुगन्ध इसकी नहीं है।"

"कदाचित् इसीकी हो।"

"नहीं, नहीं, वह तो और ही प्रकार की है।"

"अच्छा, इधर चलो, वहाँ भी कई वृक्ष मेरे ही लगाये हुए हैं। सम्भव है, उनमें से ही किसीकी सुगन्ध ने तुमको मुग्ध कर लिया हो। वे पुष्प इस प्रकार से भिन्न हैं। मैंने ही उनके वृक्ष यहाँ पहले-पहल लगाये हैं।"

"नहीं माली, तुम्हारे पुष्प सुन्दर, रंग-बिरंगे अवश्य हैं, परन्तु सुगन्ध तो उनमें वैसी नहीं है। जिस मादकतापूर्ण सुगन्ध के प्रभाव ने मुझे यहाँ आकृष्ट किया है, वह थोड़ी भी इनमें नहीं पाई जाती। ओह! वह कैसी सुगन्ध है! हृदय यह जानना चाहता है कि जिसकी यह सुगन्ध है, वह पुष्प कैसा होगा।"

कुछ देर के अनन्तर वह पथिक माली से फिर कहने लगा, "माली, अब मुझे ढूँढ़ने दो। फिर मुझ पर उस पुष्प की मादकता छाने लगी है। वह सुवास इस वायु-मण्डल में विद्यमान है, अतः मैं उसे अवश्य ढूँढूँगा। मुझे मत रोकना। आना चाहो तो तुम भी मेरे साथ आ सकते हो।"

माली अब ताड़ गया कि वह पूर्णतया विफल हुआ। वह जानता था कि पथिक किस सुवास की बात कर रहा है। एक बार और विफल होने के कारण वह खिन्न होकर पथिक के पीछे-पीछे चलने लगा। अन्त में वह भी उसी स्थान पर पहुँच गया, जहाँ पहले उस सुन्दर पुष्प को धारण किये हुए वह वृक्ष खड़ा था। पहले वहाँ पर जो दूब थी, वह स्वाभाविक छोटी-छोटी थी, जो अब है, वह भी वैसी ही सुन्दर छोटी-छोटी है; किन्तु यह बात स्पष्ट है कि वहाँ काट-छाँट अवश्य की गई। अब भी गोलाकार मैदान बना है, किन्तु वह अपनी स्वाभाविक झाड़ियों से परिमित न रहकर कँगूरों द्वारा नियमित है। पुनः, पहले जहाँ वह वृक्ष खड़ा था, वहीं एक फव्वारा लगा है और उसके विभिन्न मुखों से अनेकानेक रंग-बिरंगी धाराएँ निकल रही हैं।

पथिक भूमता-झामता वहाँ पहुँचा और ठोकर खाकर गिर

पड़ा। कुछ देर बाद उठा और मतवाले की तरह लड़खड़ाता हुआ चलने लगा। माली स्तब्ध होकर पथिक की दशा देख रहा था। एकाएक पथिक को फव्वारे की ओर जाते देखकर माली भविष्य की आशंका से चौंक पड़ा और उसकी ओर दौड़ा, पर पथिक पहुँच चुका था। वह उस फव्वारे के पास जाकर नीचे बैठकर झुक गया मानो वह उसके पद छू रहा हो, पर आह! उस फव्वारे से निकलने वाली रंग-बिरंगी धाराओं का कुछ पानी पथिक के शरीर पर गिरा। वह एकाएक उछल पड़ा और 'आह' करके पास ही दूब पर लेट गया। अभी माली आ ही रहा था, दौड़कर देखा; किन्तु पथिक पर जल अपना असर दिखा चुका था, वह व्यथा से पीड़ित था।

"तुमने यह क्या किया?"

"यही उस सुगन्ध का उद्गम है, अतः मैं वृक्ष को नमस्कार कर रहा था।"

"नहीं पथिक, तुम्हें भ्रम हो रहा है। यह बात सत्य है कि बहुत दिन पहले यहाँ वृक्ष था और उसमें एक पुष्प खिला था। यहाँ आते ही प्रारम्भ में मुझे उसका कुछ-कुछ भान हुआ था, परन्तु उसे नष्ट हुए बहुत काल व्यतीत हुआ। वह पुष्प सूखकर गिर गया और अब उस वृक्ष का भी पता नहीं है। उसी स्थान पर मैंने एक फव्वारा लगाया है और उसमें से मैं अपने रसायन शास्त्र के ज्ञान से भिन्न-भिन्न रंगों की धाराएँ प्रवाहित करता हूँ। मित्र और सम्बन्धी जब यहाँ आते हैं तो वे यह दृश्य देखकर मुग्ध हो जाते हैं; किन्तु जो जल इसमें से प्रस्फुटित होता है, वह हानिकारक है। यदि यह शरीर पर गिर जाय, तो मनुष्य के लिए घातक होता है। मैं नहीं जानता था, आशंका तक न थी कि तुम यहाँ पहुँचकर अपनी यह दशा कर लोगे।"

पथिक की दशा बिगड़ रही थी, वह साहस करके बोला, "क्या वह वृक्ष सूख गया—नष्ट हो गया?"

"हाँ ! बहुत काल पहले ही नष्ट हो गया था।"

"तो क्या तुम उस श्रेणी का कोई दूसरा वृक्ष नहीं लगा सकते ?"

"नहीं पथिक, मेरे पास उस वृक्ष के बीज नहीं हैं। मैं यह भी नहीं जानता कि वह वृक्ष कौन है, उसका बीज कहाँ मिलता है ?"

"तो अब तुम्हारे लिए उसके उस पुष्प की सुगन्ध ही रह गई है। क्या वही उसकी एक 'अतीत स्मृति' है ?"

"हाँ।"

"तो वैसे वृक्ष के बिना तुम्हारा यह सारा उद्यान सूना है, तुम्हारे प्रयत्न व्यर्थ हैं। तुमने एक बीहड़ वन को सुन्दर उद्यान में परिवर्तित किया है; किन्तु आज उस वृक्ष से रहित यह उद्यान उस वृक्ष के समाधि-स्थान ही के समान है, माली ! अगर अधिक न हो, वैसा वृक्ष तुम न लगा सको, तो उसकी यह 'अतीत स्मृति' तो न मिटाना।"

१३ : : आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी

हिन्दी-समीक्षा का नवीन विकास

साहित्य-शास्त्र का ह्रास उन्नीसवीं शताब्दी तक पूरा हो चुका था। उसका नया जन्म यद्यपि भारतेन्दु-युग में ही हो गया था, किन्तु समीक्षा का व्यवस्थित विकास बीसवीं शताब्दी के आरम्भ से ही मानना चाहिए। इस प्रथम उत्थान को समीक्षा का द्विवेदी-युग कहा जाता है। स्वयं द्विवेदीजी के अतिरिक्त पंडित पद्मसिंह शर्मा, मिश्रबन्धु और पंडित रामचन्द्र शुक्ल इस युग के प्रमुख समीक्षक हैं। साहित्य के संस्कार की प्रवृत्ति इसी समय दिखाई दी और स्वभावतः इस युग की समीक्षा ने सुधारवादी स्वरूप ग्रहण किया।

उस समय रीति-शैली के काव्य का ही सबसे अधिक प्रचलन था। थोड़ी-बहुत मात्रा में नवीन शैली की रचना भी होने लगी थी, किन्तु तुलना में वह रीति-काव्य से बहुत कम थी। प० पद्मसिंह शर्मा की समीक्षा का आधार मुख्यतः रीति-कविता है; यद्यपि थोड़ा-बहुत नवीन साहित्य पर भी उन्होंने विचार किया। ठीक जिस मात्रा में ये दोनों प्रकार के काव्य-भेद उस समय प्रचलित थे, उसी अनुपात में शर्माजी ने उनका विवेचन किया। इस दृष्टि से शर्माजी अपने समय के प्रतिनिधि समीक्षक कहे जा सकते हैं।

क्रमशः नवीन साहित्य की मात्रा, परिमाण और शक्ति बढ़ती गई और रीति-काव्य का अन्त होता गया। रीति के प्रभावों से द्विवेदी-युग की समीक्षा को पूरी मुक्ति नहीं मिली। प्राचीन का मोह उनसे नहीं छूटा। यदि हम नवीन समीक्षा पर इस दृष्टि से विचार करें कि विशुद्ध साहित्यिक आधार पर प्राचीन साहित्य और नवीन साहित्य का समन्वय कब हुआ, अर्थात् कब समीक्षा की एक ऐसी सत्ता प्रतिष्ठित हुई जिसमें नवीन और प्राचीन साहित्य एक ही तुला पर रखकर देखे गए, तो हम कहेंगे कि वह युग द्विवेदी-युग के पश्चात् उपस्थित हुआ। स्वयं शुक्लजी का झुकाव नवीन की अपेक्षा प्राचीन की ओर अधिक था।

जिस प्रकार शुक्लजी और उनके पूर्ववर्ती समीक्षक प्राचीन साहित्य की ओर इतने अधिक झुक गए थे कि वे नवीन साहित्य की विशेषताओं की ठीक परख न कर सके, उसी प्रकार आज की नवीन समीक्षा प्रचलित साहित्य की ओर इतनी आकृष्ट है कि न केवल प्राचीन साहित्य की उपेक्षा ही हो रही है, बल्कि साहित्य की कोई सार्वजनीन और स्थिर माप बनने में भी बाधा पड़ रही है। यह स्वाभाविक है कि द्विवेदी-युग में नवीन साहित्य का पल्ला हलका होने के कारण समीक्षकों की दृष्टि उसके गुणों की ओर न जा सकी, किन्तु इस बात का कोई कारण नहीं दीखता कि आज के नये समीक्षक प्राचीन और नवीन समस्त साहित्य को सम दृष्टि से क्यों न देखें?

साहित्य की कोई अपनी स्थायी कसौटी क्यों नहीं बन रही? क्यों हम अपनी सभी विशेष दृष्टियों से साहित्यिक कृतियों की समीक्षा करते हैं? इसका कारण केवल हमारे संस्कार नहीं हैं, वे अनेक मतवाद भी हैं जो नई समीक्षा में प्रवेश कर चुके हैं। इन मतवादों से किस प्रकार हमारी और हमारे साहित्य की

सम्पूर्ण त्रुटियों के रहते हुए युग काव्य का पोषण करना द्विवेदीजी का ही काम था और वे युगद्रष्टा, साहित्यिक और समीक्षक के पद को गौरवान्वित करने वाले प्रथम व्यक्ति थे। 'हिन्दी-नवरत्न' पर अपना मत देते हुए उन्होंने एक ओर सूर और तुलसी जैसे सन्त कवियों के काव्य को शृङ्गारी कवियों से पृथक् और ऊँचा स्थान देने की सिफारिश की और दूसरी ओर भारतेन्दु जैसे नई शैली के स्वदेश-प्रेमी कवि को सम्मानित पद प्रदान किया। समीक्षा की एक सुन्दर रूपरेखा द्विवेदीजी ने प्रस्तुत की, यद्यपि उसमें रग भरने, उसे प्रशस्त करने और शास्त्रीय मर्यादा देने का कार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल द्वारा सम्पन्न हुआ।

प० कृष्णविहारी मिश्र और लाला भगवानदीन भी इस युग के मुख्य समीक्षकों मे है, जिन पर रीति पद्धति की पूरी छाप पडी है। द्विवेदीजी अपनी समीक्षा मे काव्य विषय को महत्त्व देते है, भले ही शैली का सौन्दर्य अथवा भावात्मकता उसमे न हो। मिश्रजी और दीनजी विषय की अपेक्षा काव्य शैली को मुख्य ठहराते है। उन्हें विषय के महत्त्व अथवा काव्य की वास्तविक भावात्मकता से प्रयोजन था तथा द्विवेदी युग की समीक्षा के ये दो प्रतिवाद हैं जिनके मध्य कोई सामजस्य न था।

शुक्लजी अपनी समीक्षा मे मिश्रबन्धुओं अथवा शर्माजी की अपेक्षा द्विवेदीजी के अधिक निकट थे। उन्होंने काव्य-विषय के महत्त्व का आरम्भ से ही ध्यान रखा और सामाजिक व्यवहार की पृष्ठभूमि पर काव्य की भाव सत्ता को स्थापित किया यहाँ शुक्लजी का काव्यात्मक लोकवाद है, जो उनका मुख्य साहित्यिक सिद्धान्त है। काव्य म भाव की सत्ता व्यवहार निरपेक्ष भी हो सकती है, शुक्लजी इसे स्वीकार नहीं कर सके।

काव्य की आत्मा की ओर उनकी दृष्टि गई, किन्तु आत्मा के स्थूल पक्ष व्यवहार या नीति पर ही वह टिक रही। काव्य विषय

का आग्रह उन्हें 'एहि महँ रघुपति नाम उदारा' के प्रवर्तक तुलसीदास के समीप ले गया। तुलसीदास के काव्यात्मक महत्त्व पर दो मत नहीं हो सकते, किन्तु इतना स्वीकार करना होगा कि गोस्वामीजी कवि के साथ ही अपने युग के एक धर्म-संस्थापक, सुधारक और संस्कारक भी थे। उनके काव्य मे उपदेशात्मक तथ्य कम नहीं हैं।

विशुद्ध काव्यात्मक भाव-सवेदन की अपेक्षा नैतिक भाव-सत्ता की ओर शुक्लजी का झुकाव कहीं अधिक था, वह उनके समीक्षा-कार्य से लक्षित होता है। भारतीय रस सिद्धान्त को उन्होंने मुख्य समीक्षा-सिद्धान्त माना, किन्तु रस के आनन्द-पक्ष पर, उसके आध्यात्मिक स्वरूप पर उनकी निगाह नहीं गई। साहित्य-समीक्षा को सैद्धान्तिक आधार देने वाले प्रथम समीक्षक शुक्लजी ही थे, किन्तु रस-सम्बन्धी उनकी व्याख्या व्यंजना या अनुभूति पर आश्रित न होकर, एक नैतिक आधार का अनुसन्धान करती है।

इस सम्बन्ध मे उनका 'साधारणीकरण' का उल्लेख ध्यान देने योग्य है। काव्य मे इनकी एक अबाध धारा न मानकर वे वस्तु या विषय चित्रण के आधार पर उसकी कई भूमियाँ मानते है। 'रामचरितमानस' के तीन पात्रो का उदाहरण देकर वे कहते है कि राम के चित्रण मे पाठक या श्रोता की वृत्ति रमती है, रसानुभव करती है, रावण के चित्रण मे वह रसानुभव नहीं करती और सुग्रीव आदि पात्रों के चित्रण मे अंशत. रस लेती है। यह अनोखी उपपत्ति काव्य की समस्त क्रमागत विवेचना के विरुद्ध है तथा शुक्लजी की नैतिक काव्य-दृष्टि का विज्ञापन करती है।

रस और अलंकार, भाव-पक्ष और शैली-पक्ष का पृथक्करण और आत्यन्तिक विच्छेद शुक्लजी का दूसरा साहित्यिक सिद्धान्त है। विभाव-पक्ष और अलंकार-पक्ष, काव्य-भावना और काव्य-

यहाँ हम धारावाहिक रूप से यह देखना चाहते हैं कि हिन्दी की नवीन समीक्षा किन आरम्भिक परिस्थितियों को पार करके आज की भूमि पर पहुँची है और किस प्रकार वह भविष्य के पथ की ओर अग्रसर हो रही है। उसने कितना साधन-सम्बल संग्रह कर लिया है और उसकी सहायता से वह आगामी परिस्थितियों का सामना कहाँ तक कर सकती है।

पं० पद्मसिंह शर्मा की समीक्षा में सुधार का मुख्य विषय रचना-कौशल था। रीति-काव्य में, जो शर्माजी के समय का प्रचलित काव्य-प्रवाह था, कौशल की ही प्रधानता थी और उनके समय के नव-निर्माण में इसीकी कमी थी। फलतः शर्माजी की समीक्षा का मुख्य आधार काव्य-कौशल बना, जो सामयिक साहित्यिक स्थिति का स्वाभाविक परिणाम था। नवीन सुधार का विषय काव्य-आत्मा नहीं, काव्य-शरीर था। यह भी समय को देखते हुए अनिवार्य ही था।

काव्य-शरीर के अन्तर्गत भाषा, पद प्रयोग, उक्ति-चमत्कार और चित्रण-कौशल आदि आते हैं, इन्हीं की ओर शर्माजी की दृष्टि गई। यदि यह प्रश्न किया जाय कि काव्य-आत्मा में पारस्परिक सम्बन्ध क्या है, तो मोटे तौर पर यही कहा जा सकता है कि सूर और तुलसी का काव्य-आत्मा स्थानीय है और बिहारी तथा देव का काव्य शरीर स्थानीय। पं० पद्मसिंह शर्मा की समीक्षा काव्य-शरीर का आग्रह करके चली, देव और बिहारी को आदर्श बनाकर आगे बढ़ी।

सुधार की पहली सीढ़ी शरीर-सम्बन्धिनी ही होती है और उसका अपना मूल्य भी कुछ कम नहीं होता। अंग्रेजी की उक्ति है कि शुद्ध शरीर में ही शुद्ध आत्मा रह सकता है, यद्यपि इसका यह अर्थ नहीं कि शुद्ध शरीर में सदैव शुद्ध आत्मा ही निवास करता है। शर्माजी ने काव्य-शरीर की शुद्धि के सभी पहलू

स्पष्ट कर दिए और उसकी समस्त सम्भावनाएँ उद्घाटित कर दीं। काव्य-समीक्षा के लिए उनका कार्य अपनी सीमा में महत्त्व रखता है और यह सिद्ध करता है कि शरीर के सुधारने से ही मन और आत्मा नहीं सँवरते।

नवीन काव्य-धारा के सम्बन्ध में शर्माजी का मत मुक्तक काव्य के—बिहारी और देव आदि के—काव्य-प्रतिमानों से ही प्रभावित था। नवीन कविता किस आदर्श को ग्रहण करे, इसी विषय पर उनके संस्कार रीति-शैली से ही परिचालित हुए थे, फलतः नवीन काव्य की गति-विधि पर न तो उनकी सम्मति का विशेष मूल्य था और न प्रभाव ही। हिन्दी के लिए उन्होंने हाली का आदर्श ग्रहण करने की सिफारिश की, किन्तु नवीन कविता उस साँचे में नहीं बैठ सकती थी।

द्विवेदी-युग का नवीन काव्य आदर्शात्मक काव्य था। उसके मूल में नवयुग की भावना का विन्यास था, छायावाद की कविता तो और भी अधिक आत्माभिमुखी थी। उसके लिए देव और बिहारी के साँचे कहाँ तक ठीक उतर सकते थे, यह आज का सामान्य व्यक्ति भी आसानी से समझ सकता है।

'मिश्रबन्धुओं' की समीक्षा में देश-काल के उपादानों का संग्रह हुआ और कवियों की जीवनी पर भी प्रकाश पड़ा, किन्तु यह सब उल्लेख नाम-मात्र का था, समीक्षा की दृष्टि में कोई परिवर्तन न हो पाया। सब-कुछ होते हुए भी मिश्रबन्धु रीति-काव्य का मोह न त्याग सके, न उन्होंने काव्य के भाव-पक्ष को कोरी कलात्मकता से पृथक् करके देखा। रीति-काव्य और रीति-ग्रंथों का उनकी समीक्षा पर अमिट प्रभाव पड़ा है।

द्विवेदीजी ने समीक्षा के जीवन्त पहलू—आत्म-पक्ष पर पूरा ध्यान दिया। इसका सबसे बड़ा प्रमाण यह है कि उनकी छत्रच्छाया में नवीन धारा के कवियों को अत्यधिक प्रोत्साहन प्राप्त हुआ।

व्यंजना को दो पृथक् प्रक्रियाएँ मानने के कारण शुक्लजी उनके समन्वय की कल्पना भी नहीं कर सके। न तो भारतीय साहित्याचार्य और न क्रोचे जैसे नवीन सिद्धान्त-स्थापक वस्तु और शैली में इस प्रकार का कोई भेद स्वीकार करते हैं।

काव्य में प्रकृति-वर्णन के एक विशेष प्रकार का आग्रह करते हुए शुक्लजी काव्य के स्थायी वर्ण्य-विषयों और वर्णन-प्रकारों का मत उपस्थित करते हैं। काव्य की देश-काल-परिच्छिन्न शैलियाँ और उनकी प्रेरक परिस्थितियाँ शुक्लजी को मान्य नहीं हैं। रागात्मिका वृत्ति का एक ही नित्य और स्थिर स्वरूप मानने के कारण शुक्लजी काव्य के देश-कालानुरूप विकास की उपेक्षा कर गए हैं। इसीलिए वे नाटक, उपन्यास, आख्यायिका आदि अनेक काव्यांगों के स्वतन्त्र रूपों की ओर आकृष्ट नहीं हुए।

सामान्य नैतिकता का ही नहीं, भारतीय-समाज-पद्धति और वर्ण-व्यवस्था का भी प्रभाव शुक्लजी की समीक्षा पर देखा जाता है। वर्णाश्रम-व्यवस्था का एक समाज-पद्धति के रूप में समर्थन करना एक बात है और उसे काव्य-वैशिष्ट्य का हेतु मान लेना दूसरी ही बात है। शुक्लजी काव्य के नैतिक आदर्श के कारण भावनावान कवि सूरदास के प्रति जो मत व्यक्त करते हैं उससे शुक्लजी की समीक्षा-सम्बन्धी व्यक्तिगत दृष्टि का परिचय मिलता है। स्थूल व्यावहारिक सम्बन्धों का प्रबन्ध-काव्य के साँचे में उल्लेख न करने के कारण नवीन भावात्मक और आदर्शनिक काव्य से भी विरक्त हैं।

एक नवीन उत्थानात्मक काव्यादर्श का निर्माण शुक्लजी ने अवश्य किया, जिसके अन्तर्गत हिन्दी के प्राचीन और नवीन साहित्य का आरम्भिक विवेचन सुन्दर रूप में किया जा सका और हिन्दी समीक्षा की एक पुष्ट परिपाटी बन सकी, किन्तु यह नहीं कह सकते कि शुक्लजी की सैद्धान्तिक और व्यावहारिक

समीक्षाएँ भारतीय या पाश्चात्य साहित्यानुशीलन की उन्नततम कोटियों तक पहुँच सकी हैं। साहित्यिक, ऐतिहासिक और मनोवैज्ञानिक समीक्षा का प्रथम चरण शुक्लजी ने पूरा किया।

उनके कार्य का ऐतिहासिक महत्त्व है। भारतीय काव्य-समीक्षा के पुनरुज्जीवन का प्राथमिक प्रयास उन्होंने किया। काव्य-आत्मा के नैतिक स्वरूप की उन्होंने प्रतिष्ठा की, किन्तु काव्य का निर्विशेष स्वरूप, जिसमे वस्तु और प्रक्रिया, रस और अलंकार, भाव और भाषा के बीच पूर्ण तादात्म्य की खोज होती है, शुक्लजी की समीक्षा मे उपलब्ध नहीं। पाश्चात्य काव्य-समीक्षा के बहुत थोड़े और एक विशेष अश पर ही उनकी दृष्टि गई, जो व्यापक नहीं कही जा सकती।

हिन्दी-साहित्य का महान उपकार हुआ, किन्तु विशुद्ध साहित्यिक सिद्धान्त की वह प्रतिष्ठा, जो पूर्व और पश्चिम, नवीन और अतीत की काव्य-सम्पत्ति को पूर्णत. आत्मसात् कर सके और जिसके द्वारा सभी काव्य-शैलियों, काव्यांगों और कलात्मक स्फूर्तियों का सम्यक् आकलन हो जाय—काव्य-साहित्य की वैज्ञानिक व्याख्या और काव्य-सिद्धान्तों का तटस्थ अनुशीलन—शुक्लजी की कार्य-परिधि मे नहीं आता।

इसी समय आचार्य श्यामसुन्दरदास की 'साहित्यालोचन' और श्री बख्शीजी की 'विश्व-साहित्य' पुस्तकें प्रकाशित हुईं। 'साहित्यालोचन' में काव्य, नाटक, उपन्यास आदि विविध साहित्यांगों की पहली बार सुन्दर व्याख्या की गई और 'विश्व-साहित्य' मे यूरोपीय और विशेषकर अंग्रेजी साहित्य की एक मोटी रूपरेखा प्रस्तुत की गई। इनमें से प्रथम ग्रन्थ का हिन्दी-साहित्य-समीक्षा पर अभीष्ट प्रभाव पड़ा और साहित्य को नैतिक सीमा से ऊपर उठकर सार्वजनिक कलावस्तु के रूप मे देखने की अपूर्व प्रेरणा पैदा हुई।

व्यंजना को दो पृथक् प्रक्रियाएँ मानने के कारण शुक्लजी उनके समन्वय की कल्पना भी नहीं कर सके। न तो भारतीय साहित्याचार्य और न क्रोचे जैसे नवीन सिद्धान्त-स्थापक वस्तु और शैली में इस प्रकार का कोई भेद स्वीकार करते हैं।

काव्य में प्रकृति-वर्णन के एक विशेष प्रकार का आग्रह करते हुए शुक्लजी काव्य के स्थायी वर्ण्य-विषयों और वर्णन-प्रकारों का मत उपस्थित करते हैं। काव्य की देश-काल-परिच्छिन्न शैलियाँ और उनकी प्रेरक परिस्थितियाँ शुक्लजी को मान्य नहीं हैं। रागात्मिका वृत्ति का एक ही नित्य और स्थिर स्वरूप मानने के कारण शुक्लजी काव्य के देश-कालानुरूप विकास की उपेक्षा कर गए हैं। इसीलिए वे नाटक, उपन्यास, आख्यायिका आदि अनेक काव्यांगों के स्वतन्त्र रूपों की ओर आकृष्ट नहीं हुए।

सामान्य नैतिकता का ही नहीं, भारतीय समाज-पद्धति और वर्ण-व्यवस्था का भी प्रभाव शुक्लजी की समीक्षा पर देखा जाता है। वर्णाश्रम-व्यवस्था का एक समाज-पद्धति के रूप में समर्थन करना एक बात है और उसे काव्य-वैशिष्ट्य का हेतु मान लेना दूसरी ही बात है। शुक्लजी काव्य के नैतिक आदर्श के कारण भावनावान् कवि सूरदास के प्रति जो मत व्यक्त करते हैं उससे शुक्लजी की समीक्षा-सम्बन्धी व्यक्तिगत दृष्टि का परिचय मिलता है। स्थूल व्यावहारिक सम्बन्धों का प्रबन्ध-काव्य के साँचे में उल्लेख न करने के कारण नवीन भावात्मक और आदर्शनिक काव्य से भी विरक्त हैं।

एक नवीन उत्थानात्मक काव्यादर्श का निर्माण शुक्लजी ने अवश्य किया, जिसके अन्तर्गत हिन्दी के प्राचीन और नवीन साहित्य का आरम्भिक विवेचन सुन्दर रूप में किया जा सका और हिन्दी समीक्षा की एक पुष्ट परिपाटी बन सकी, किन्तु यह नहीं कह सकते कि शुक्लजी की सैद्धान्तिक और व्यावहारिक

समीक्षाएँ भारतीय या पाश्चात्य साहित्यानुशीलन की उन्नततम कोटियों तक पहुँच सकी है। साहित्यिक, ऐतिहासिक और मनोवैज्ञानिक समीक्षा का प्रथम चरण शुक्लजी ने पूरा किया।

उनके कार्य का ऐतिहासिक महत्त्व है। भारतीय काव्य-समीक्षा के पुनरुज्जीवन का प्राथमिक प्रयास उन्होंने किया। काव्य-आत्मा के नैतिक स्वरूप की उन्होंने प्रतिष्ठा की, किन्तु काव्य का निर्विशेष स्वरूप, जिसमे वस्तु और प्रक्रिया, रस और अलंकार, भाव और भाषा के बीच पूर्ण तादात्म्य की खोज होती है, शुक्लजी की समीक्षा मे उपलब्ध नहीं। पाश्चात्य काव्य-समीक्षा के बहुत थोड़े और एक विशेष अंश पर ही उनकी दृष्टि गई, जो व्यापक नहीं कही जा सकती।

हिन्दी-साहित्य का महान् उपकार हुआ, *किन्तु विशुद्ध* साहित्यिक सिद्धान्त की वह प्रतिष्ठा, जो पूर्व और पश्चिम, नवीन और अतीत की काव्य-सम्पत्ति को पूर्णत आत्मसात् कर सके और जिसके द्वारा सभी काव्य शैलियों, काव्यागो और कलात्मक स्फूर्तियो का सम्यक् आकलन हो जाय—काव्य-साहित्य की वैज्ञानिक व्याख्या और काव्य-सिद्धान्तों का तटस्थ अनुशीलन—शुक्लजी की कार्य-परिधि मे नहीं आता।

इसी समय आचार्य श्यामसुन्दरदास की 'साहित्यालोचन' और श्री बख्शीजी की 'विश्व साहित्य' पुस्तके प्रकाशित हुईं। 'साहित्यालोचन' मे काव्य, नाटक, उपन्यास आदि विविध साहित्यागों की पहली बार सुन्दर व्याख्या की गई और 'विश्व-साहित्य' मे यूरोपीय और विशेषकर अंग्रेजी साहित्य की एक मोटी रूपरेखा प्रस्तुत की गई। इनमें से प्रथम ग्रन्थ का हिन्दी-साहित्य-समीक्षा पर अभीष्ट प्रभाव पडा और साहित्य की नैतिक सीमा से ऊपर उठकर सार्वजनिक कलावस्तु के रूप मे देखने की अपूर्व प्रेरणा पैदा हुई।

शुक्लजी का समीक्षा-कार्य पाण्डित्यपूर्ण होता हुआ भी उनकी वैयक्तिक रुचियों का द्योतक है। इसी कारण वह मार्मिक है, किन्तु वस्तुगत और वैज्ञानिक नहीं। श्यामसुन्दरदासजी का 'साहित्यालोचन' उतना मौलिक न हो, किन्तु वह साहित्य और उसके अंगों की तटस्थ, ऐतिहासिक तथा वास्तविक व्याख्या का प्रथम प्रयत्न है। सैद्धान्तिक दृष्टि से शुक्लजी के नैतिक और व्यवहारवादी कलादर्श की अपेक्षा वह अधिक साहित्यिक है।

इसी समय नवीन साहित्य का नवोन्मेष हो रहा था और उसकी व्याख्या करने वाले समीक्षक भी क्षेत्र में आ रहे थे। नवीन काव्य में आत्माभिव्यञ्जना का प्राधान्य था और प्रगीत काव्य का माध्यम ग्रहण किया गया था। इसीके अनुरूप नवीन समीक्षा भी जीवन और कला का ऐक्य तथा वस्तु और शैली का ऐक्य उद्घोषित करके चली। नवीन प्रगीत काव्य की सगीतात्मकता और लय से प्रभावित होकर नये समीक्षकों ने प्रथम बार काव्य की आध्यात्मिकता का अनुभव किया, काव्य रस को अलौकिक माना।

शुक्लजी प्रभृति पूर्ववर्ती समीक्षक काव्य विषय को महत्त्व देते थे और आलम्बन का साधारणीकरण आवश्यक बताते थे, किन्तु नई समीक्षा, जो विशुद्ध काव्यानुभूति के आधार पर प्रतिष्ठित हुई, काव्य को ही आध्यात्मिक प्रक्रिया स्वीकार करने लगी। सम्पूर्ण काव्य रसात्मक नहीं होता, किन्तु काव्य रसात्मक ही होता है। काव्य की रसात्मकता का अर्थ ही है उसकी आध्यात्मिकता। रस का आनन्द अलौकिक आनन्द है।

भारतीय राष्ट्र की नव-जागृति के काल में नवीन कविता, जो सुन्दर समवेदना, दार्शनिक आभा, कल्पना की अपूर्व छटा तथा भाषा और अभिव्यञ्जना का नव विकास लेकर उपस्थित हुई, उससे हिन्दी-समीक्षा-काव्य की उच्चतम भाव भूमि का प्रथम बार

परिदर्शन कर सकी। बंगला में रवीन्द्रनाथ और हिन्दी में नवीन रहस्यवादी, दार्शनिक, सौन्दर्यचेता कवियों ने काव्य को उच्चतम सांस्कृतिक भूमि पर पहुँचाने का प्रयत्न किया। फलतः नवीन समीक्षा में भी नई उमंग उत्पन्न हुई और काव्य का सौन्दर्य नैतिक आवरण छोड़कर आध्यात्मिक अनुभूति का प्रेरक बन गया।

किन्तु काव्यानुभूति के साथ संगीत का संयोग इस युग में बना ही रहा। संगीत का इतना गहरा प्रभाव पड़ गया था कि इस युग की गद्य की भाषा भी ध्वन्यात्मक हो रही थी। 'प्रसाद' के नाटक, 'निराला' के उपन्यास और पन्तजी की गद्य-भूमिकाएँ अतिरंजित भाषा के उदाहरण हैं। प्रगीतात्मक काव्य का इतना प्रसार था कि साहित्य के आख्यानात्मक और नाटकीय अंग भी अपनी विशेषता छोड़कर काव्यालंकारों से सुसज्जित हो गए।

एक अतिरिक्त सौन्दर्य-समवेदना इस युग की रचनाओं पर अधिकार करने लगी थी, जिससे विशुद्ध भाव-व्यंजना का मार्ग अवरुद्ध होने लगा था। कतिपय समीक्षकों ने इस कारण इस युग को सौन्दर्य का कला-प्रधान युग कहा है, किन्तु यह आंशिक सत्य ही है। वास्तव में एक सांस्कृतिक अभिरुचि, जिसमें भाषा और भावों की अलंकृति की स्वाभाविक प्रेरणा थी, इस युग में देखी जाती है। काव्य में विशुद्ध भाव-व्यंजना के साथ यह सौन्दर्यालंकृति भी मिली हुई है।

फिर भी काव्य का अनुभूति-पक्ष इस काल की काव्य-समीक्षा में प्रमुख रीति से प्रदर्शित हुआ और समीक्षकों ने अनुभूति के मानसिक आधार की विवेचना करने का यथेष्ट प्रयत्न किया। विशुद्ध काव्यात्मक अनुभूति या भावयोग की खोज की गई तथा काव्य की मानसिक संवेदना का आधार दिया गया। प्रथम बार एक मापरेखा बनी, जिससे प्राचीन और नवीन, भारतीय और

पाश्चात्य साहित्य एक आधार पर रखकर देखे जा सके।

हिन्दी-समीक्षा के लिए यह युग-प्रवर्तक कार्य था, क्योंकि इसी आधार पर हिन्दी-साहित्य विश्व-साहित्य का एक अंग माना जा सका। साहित्य की एक ऐसी वास्तविक चेतना उत्पन्न हुई जिसमें देशगत और कालगत बन्धनों के लिए स्थान न था। रहस्यवादी समीक्षा-युग की यह विशेषता उल्लेखनीय है।

ज्यों ही काव्य की यह अबोध सत्ता प्रतिष्ठित हुई, त्यों ही समीक्षकों को अनुभव भी हुआ कि ऐसा उत्कृष्ट साहित्य, जो सार्वदेशिक और सार्वकालिक कहा जा सके, विरल है और प्रत्येक साहित्यिक रचना को यह सर्वोच्च पद प्राप्त नहीं होता। इसी समय समीक्षकों का एक वर्ग इस मत के प्रचार में लगा कि हिन्दी का नवीन काव्य पूँजीवादी सभ्यता का काव्य है और उस पर उक्त सभ्यता के एक युग-विशेष की छाप है। मानव-इतिहास को मार्क्स ने जिन कतिपय कालों में विभाजित किया है, उसी माप-दण्ड को लेकर नये समीक्षक हिन्दी-कविता पर अपने प्रयोग करने लगे।

रहस्यवादी, मनोवैज्ञानिक और भावात्मक समीक्षकों की यह प्रतिक्रिया थी। वे समीक्षक जब काव्य का—श्रेष्ठ काव्य का—देशकाल-निर्बाध रूप मानते थे तब नया समीक्षक-दल इसके विरुद्ध उठ खड़ा हुआ और नवीन कविता को 'पूँजीवादी' कहने लगा।

इन दोनों मतों के तारतम्य को समझ लेना चाहिए। पहला मत काव्य के मनोवैज्ञानिक, साहित्यिक और भावात्मक स्वरूप की व्याख्या करता है, किन्तु यह व्याख्या इतनी सूक्ष्म और मार्मिक है कि प्रत्येक समीक्षक श्रेष्ठ काव्य का चयन इस पद्धति से नहीं कर सकता। भय है कि समीक्षक प्रभावाभिव्यंजक हो जायगा और अपनी रुचि विशेष का अनुशासन स्वीकार कर लेगा।

वह साहित्य की कोई तटस्थ या वस्तुगत व्याख्या न कर सकेगा।

किन्तु इस भय के साथ इस सिद्धान्त का अपना बल भी है और वह बल काव्य प्रेमी-मात्र के साक्ष्य का बल है। सभी सहृदय यह स्वीकार करेंगे कि श्रेष्ठ कवियों की सुन्दरतम रचनाओं में सार्वजनीनता है, युग का प्रतिबन्ध या वाद का अपवाद नहीं। काव्य-प्रक्रिया कोरी भौतिक वस्तु नहीं है, वह मानव-कल्पना की सृष्टि है, वह क्रमागत मानव-संस्कृति की परिपूर्णता का परिणाम है।

दूसरी ओर यह भी असत्य नहीं कि कवि भी मनुष्य है और अपने युग की स्थितियों और प्रवृत्तियों का उस पर भी प्रभाव है। दोनों मत नितान्त विरोधी नहीं हैं। एक काव्य के मानसिक और कलात्मक गुणों की व्याख्या करता है और दूसरा उन ऐतिहासिक स्थितियों की शोध करता है जिनमें वह रचना सम्भव हुई। काव्य के ये दो पक्ष हैं, दोनों का स्वतन्त्र अध्ययन और समन्वय सम्भव है, यह स्वीकार करना होगा।

किन्तु दोनों दृष्टियों में विभेद बढ़ता ही गया है। एक ओर नवयुग की मनोवैज्ञानिक समीक्षा अपनी दृढ़ साहित्यिक भित्ति को त्यागकर केवल काव्य-प्रभाव की अभिव्यंजना करने लगी और दूसरी ओर नये समीक्षक साहित्यिक, कलात्मक और सांस्कृतिक विशेषताओं का एक वाद-विशेष के लिए तिरस्कार करने लगे।

किन्तु दोनों पक्षों में सतर्क समीक्षकों का एक दल ऐसा भी है जो काव्य की व्यावहारिक समीक्षा में इतना अतिवादी नहीं बना। साहित्यिक और मनोवैज्ञानिक दृष्टि से जिन नवीन कवियों का स्वागत एक पक्ष के समीक्षकों ने किया था, दूसरे पक्ष के समीक्षकों ने अपनी सामाजिक व्याख्याओं द्वारा उन्हीं कवियों के महत्त्व को स्वीकार किया। इन दोनों दलों के समीक्षकों में पक्ष-भेद

अवश्य है, किन्तु वास्तविक भेद नहीं।

कट्टरता का परिणाम दोनों ओर अनिष्टकारी हुआ, हिन्दी-काव्य-समीक्षा के सामने सकट उत्पन्न हो गया कि वह आपस की तू-तू मैं-मैं मे पडकर कहीं अपने महान् उद्देश्य से न गिर जाय। प्रभाववादी समीक्षक अत्यन्त वैयक्तिक सीमा पर पहुँच गए और केवल हृदय की क्षणिक प्रक्रिया को समीक्षा के नाम से प्रकाशित करने लगे। अपनी रुचि के कवियों की आलङ्कारिक भाषा मे उपमान-उपमेय विधान द्वारा प्रशसा करना ही उनका काम हो गया।

दूसरी ओर परिस्थितियों और काव्य रचनाओं की सापेक्षता का आग्रह भी साहित्यिक मर्यादा को पार कर गया और हिन्दी-साहित्य मे 'वादी' समीक्षा का प्राबल्य हो उठा। प्रचारक समीक्षकों ने सामाजिक विकास के अस्त्र के रूप मे साहित्य की व्याख्या की और स्वभावत उग्र रूप मे साहित्यिक गुणों पर प्रहार किया। इस उत्तेजनापूर्ण प्रतिक्रिया मे काव्य की शिष्ट समीक्षा के लिए स्थान ही कहाँ था!

धर्मस्य तत्त्वं निहितं गुहायाम्

भारतीय धर्म-साधना का इतिहास बहुत जटिल है। साधारणत इस धर्म-मत का अध्ययन करने के लिए वैदिक, बौद्ध और जैन-साहित्य का अध्ययन किया जाता है। अब तक हमारे पास जो भी पुराना साहित्य उपलब्ध है वह आर्य-भाषाओं मे लिखित साहित्य ही है, फिर चाहे वह सस्कृत मे लिखा गया हो या पालि मे या प्राकृत मे। परन्तु एक वार यदि हम भारतीय साहित्य को सावधानी से देखें और भारतीय जन-समूह को ठीक-ठीक पहचानने की कोशिश करें तो साफ मालूम होगा कि केवल आर्य भाषाओ मे लिखित साहित्य कितना भी महत्त्वपूर्ण क्यों न हो, इस देश की जनता के विश्वासों और धर्म-साधनाओं की जानकारी के लिए वह पर्याप्त बिलकुल नहीं है। आर्यों की पूर्ववर्ती और परवर्ती अनेक आर्येतर जातियाँ इस देश मे रहती हैं और उनमे अधिकाश धीरे-धीरे आर्य भाषा-भाषी होती गई हैं। इन जातियों की अपनी पुरानी भाषाएँ क्या थीं और उन भाषाओं मे उनका लिखित या अलिखित साहित्य कैसा था, यह जानने का साधन हमारे पास बहुत कम बच रहा है। यह तो अब माना जाने लगा है कि आर्यो से भी पहले इस देश मे महान द्रविड़ सभ्यता

विद्यमान थी, उस सभ्यता के अनेक महत्त्वपूर्ण उपादान बाद मे भारतीय धर्म साधना के अविच्छेद्य अग बन गए हैं, पर इतना ही पर्याप्त नहीं है। द्रविड सभ्यता का सम्बन्ध सुदूर मिस्र और बेबीलोनिया तक स्थापित किया जा सका है और यद्यपि अब धीरे धीरे पण्डितों का विश्वास होता जा रहा है कि द्रविड जाति (रेस) की कल्पना कल्पना मात्र ही नहीं है, पर एक समृद्ध आर्य पूर्व द्रविड सभ्यता की धारणा और भी पुष्ट हुई है।

इधर निषाद या कोल भाषाओ के अध्ययन से एक बिलकुल नई बात की ओर पण्डित मण्डली का ध्यान आकृष्ट हुआ है। ऐसा जान पडता है कि इन कोल भाषा भाषी लोगों की जो अब तक जगली समझकर उपेक्षा की गई थी वह एकदम अनुचित और निराधार थी। इन भाषाओं का सम्बन्ध आस्ट्रेलिया और एशिया मे फैली हुई अनेक जनभाषाओ से स्थापित किया गया है और यह विश्वास दृढ हुआ है कि आज के हिन्दू समाज मे ऐसी अनेक जातियाँ हैं, जिनका मूल निषाद (आस्ट्रो एशियाटिक या आस्ट्रिक) जातियो मे खोजना पडेगा। हमारे अनेक नगरो के नाम इस भाषा से लिये गए हैं, खेती-बारी के औजार और अन्य उपयोगी शब्दों के नाम इन भाषाओ के आर्य रूप है और हिन्दू धर्म मे श्रद्धा और सम्मान पाने वाले बहुत से विश्वास मूलत निषाद जातियो के है। प्रा० सिल्वालेवी और उनके प्रयुलुस्की आदि शिष्यों ने जिन थोडे से भाषा शास्त्रीय तत्त्वों का रहस्य उद्घाटित किया है, उनके आधार पर अनुमान किया जा सकता है कि हमारे अनेक धर्म विश्वासो का मूल भी इन जातियों मे खोजा जा सकता है।

पिछले कुछ वर्षों मे सभी आर्येतर विश्वासो को द्रविड विश्वास कह देने की प्रवृत्ति बढ गई है। इस प्रकार शिव और विष्णु की पूजा भी द्रविड विश्वास है, पुनर्जन्म और कर्म-फल मे

विश्वास भी द्रविड़ सभ्यता की देन है और वैराग्य और कृच्छ्र तप पर जोर देना भी द्रविड़-विश्वास है। पर अब इस प्रकार की बातों की अधिक छानबीन की आवश्यकता अनुभव की जाने लगी है। सभी आर्यपूर्व और आर्येतर विश्वासों का मूल खोजना कठिन है।

हमारे देश के इतिहास का बहुत बड़ा विरोधाभास यह है कि अपेक्षाकृत नये ग्रन्थ अपेक्षाकृत पुरानी बातों को भी बता सकते हैं। इस प्रकार 'कूर्म पुराण' की रचना 'छान्दोग्य उपनिषद्' के बाद हुई है, परन्तु इसलिए यह जरूरी नहीं कि 'कूर्म पुराण' में कही हुई सभी बातें 'छान्दोग्य' में कही हुई सभी बातों से नई ही हों। हो सकता है कि इस पुराण में संग्रहीत कुछ बातें छान्दोग्य से भी पहले की हों। जैन आगमों का संकलन बहुत बाद में हुआ है, पर इसलिए यह नहीं कहा जा सकता कि इन आगमों में संकलन-काल के पूर्व की बातें नहीं हैं। यही नहीं, यह भी हो सकता है कि एक अत्यन्त परवर्ती हिन्दी-पुस्तक में किसी अत्यन्त पुरानी परम्परा का विकृत रूप उपलब्ध हो जाय। इस विरोधाभास का कारण क्या है, यह हमें अच्छी तरह जान लेना चाहिए।

जैसा बताया गया है कि देश में अनेक आर्य-पूर्व जातियाँ थीं और उनकी अपनी भाषाएँ थीं तथा अपने विश्वास थे। आर्यों को इन जातियों से पर्याप्त संघर्ष करना पड़ा था। पुराणों में असुरों, दैत्यों और राक्षसों के साथ इन प्रचण्ड संघर्षों की कथा मिल जाती है। यह इतनी पुरानी बात है कि इन संघर्षशील जातियों को देवयोनि-जात मान लिया गया है। कुछ पंडित ऐसा विश्वास करने लगे हैं कि विश्वव्यापी जल-प्रलय के पूर्व की ही ये घटनाएँ होंगी। इस महाप्रलय का वर्णन सभी देशों के साहित्य में पाया जाता है, भारतीय साहित्य में तो है ही। कहा जाता है कि इस महाप्रलय में बहुत-कुछ नष्ट हो गया और बची हुई मानव-

जाति को नये सिरे से संसार-यात्रा शुरू करनी पड़ी। इस जल-प्रलय के पूर्व की सभी जातियों को 'देवता' मान लिया गया है। इनमें जो ज्यादा तामसिक मानी गईं इन्हें राक्षस, असुर आदि पुराने नामों से ही पुकारा गया, पर इन शब्दों से अर्थ दूसरा ही लिया गया। इन तामसिक शक्तियों को भी देवयोनि-जात मानकर इनमें अनेक अद्भुत गुणों की कल्पना की गई। मैं स्वयं इस मत को सन्देह की दृष्टि से ही देखता हूँ, पर इसमें सन्देह नहीं कि ये संघर्ष बहुत पुराने और प्रायः भूले हुए जमाने के परम्परा-लब्ध कथानक हैं।

ये जातियाँ धीरे-धीरे आर्य-भाषा-भाषी होती गई हैं। कुछ तो अन्त तक आर्य-भाषा-भाषी नहीं बन सकीं और पहाड़ों, जंगलों और दूरवर्ती स्थानों में आश्रय लेकर अपनी भाषा और धर्म-विश्वासों को कथंचित् जिलाए रख सकीं। जो लोग आर्य-भाषा-भाषी हुए उन्होंने अपने विश्वासों को आर्य-भाषा के माध्यम से कहना शुरू किया। इन वेद-बाह्य धर्म-साधनाओं का संस्कृत में आना बहुत विचार-संघर्ष का कारण हुआ। सन् ईस्वी की प्रथम सहस्राब्दी में ही इस संघर्ष का आभास मिलने लगता है। सातवीं-आठवीं शताब्दी में तो किसी मत को वेद-बाह्य कहकर लोक-चक्षु में हीन करने की प्रवृत्ति अपने पूरे चढ़ाव पर मिलती है और इसकी प्रतिक्रिया भी उतनी ही तीव्र होकर प्रकट हुई है।

इस प्रतिक्रिया को न तो हम श्रमण-संस्कृति का प्रभाव कह सकते हैं और न इसे वेदसम्मत कहने का ही कोई बहाना है। यह स्पष्ट रूप से वेद-विरोधी है, हम इसे वेद-बाह्य श्रमणेतर संस्कृति कहना चाहें तो कोई हानि नहीं है।

साधारणतः वेद-बाह्य भारतीय धर्म का प्रसंग उठने पर बौद्ध और जैन-मत की बात ही स्मरण की जाती है। परन्तु एक अन्य भाव-धारा भी इस देश में काफी प्रबल थी जो वेद-बाह्य

भी थी और श्रमण सस्कृति से भिन्न थी। इस वेद-बाह्य श्रमणेतर सस्कृति के विषय में अभी विशेष आलोचना नहीं हुई है, क्योंकि एक तो इसका साहित्य बहुत कम बच पाया है, दूसरे जो साहित्य बचा भी है उस पर परवर्ती काल का रग भी चढ़ गया है।

विक्रम की सातवीं-आठवीं शताब्दी के बाद हिन्दू आचार्यों में एक ही विशिष्ट प्रवृत्ति पाई जाती है। वे किसी मत को जब हेय और नगण्य सिद्ध करना चाहते हैं तो उसे वेद-बाह्य या श्रुति विरोधी घोषित कर देते हैं। सातवीं आठवीं शताब्दी के बाद धीरे-धीरे इन वेद-बाह्य और श्रुति-विरोधी घोषित किये गए सम्प्रदायों मे अपने को वैदिक और श्रुति सम्मत कहने की प्रवृत्ति प्रबल हो जाती है। इस उद्देश्य की सिद्धि के लिए सबसे अचूक अस्त्र यह समझा गया है कि जो व्यक्ति वेद-बाह्य कहे उसीको वेद-बाह्य कहकर छोटा बना दिया जाय। शंकराचार्य ने पाशुपतों को वेद-बाह्य कहा था और बाद मे शकर को 'प्रच्छन्न बौद्ध' कहलाने का अपयश भोगना पड़ा। परवर्ती साहित्य मे एक मत का आचार्य दूसरे विरोधी मत को प्राय ही वेद बाह्य कह देता है।

परन्तु जहाँ कुछ मत अपने को वेद सम्मत सिद्ध करने का प्रयत्न करते रहे, वहीं कुछ ऐसे भी मत थे जो अपने को खुल्लम खुल्ला वेद विरोधी मानते रहे। कापाल, लाकुल, वाममार्गी तथा अन्य अनेक शाक्त और शैव मत अपने को केवल वेद विरोधी ही नहीं मानते रहे, बल्कि वेद मार्ग को निम्न कोटि का भी समझते रहे। इनके ग्रन्थों मे प्रत्येक वेद विहित मत और नैतिक आदर्श को हीन बताया गया है और इन पर अत्यन्त धक्कामार भाषा मे आक्रमण किया गया है।

यद्यपि अन्त तक ये मत अपना वेद विरोधी स्वर कायम

नहीं रख सके, फिर भी शुरू शुरू में इतने चकमार और तिल मिला देने वाले वचनों की पारिभाषिक व्याख्या की गई और बाद में उन्हें विशुद्ध श्रुति सम्मत मार्ग सिद्ध किया गया।

उत्तर की अनेक जातियों और अनेक सम्प्रदाय इन आर्यपूर्व सभ्यताओं की स्मृति वहन करते आ रहे हैं। इन सम्प्रदायों के अध्ययन से हमें अनेक भूली बातों की जानकारी प्राप्त होगी।

यह समझना ठीक नहीं कि वर्तमान युग में प्रचलित लोक-जाति और लोक स्थानक तथा विभिन्न जातियों और सम्प्रदायों की रीति रस्मे हमें केवल वर्तमान की ही बात बता सकती हैं। हो सकता है कि ये हमें घने अधकार को भेद करने योग्य प्रकाश दें और हम अतीत के जटिलाच्छन्न काल में पैठ सकें।

मनुष्य के उत्थान-पतन का इतिहास बड़ा मनोरंजक है। न जाने कितने मूलों से मनुष्य ने अपना धर्म विश्वास संचय किया है। जातिगत और सम्प्रदायगत सकीर्णताओं से जर्जरित काल में यदि हम जान सकें कि मनुष्य कितना ग्रहणशील प्राणी है, वह किस निर्भयता के साथ संस्कृति के साथ चिपटे हुए सड़े छिलकों को फेंकता आया है और किस दुर्वार शक्ति से अन्य धर्मियों के सत्य को ग्रहण करता आया है, तो यह कम लाभ नहीं है। भारतीय धर्म-साधना का इतिहास इस दिशा में बहुत सहायक है।

हमारा वैदिक, बौद्ध और जैन साहित्य विशाल है। बहुत बड़े देश और दीर्घकाल को व्याप्त करके यह साहित्य लिखा गया है। देश और काल का प्रभाव इस पर सर्वत्र है। इनके निपुण अध्ययन से तत्कालीन अन्य मतों का भी कुछ आभास पाया जाता है। यह भी पता चलता है कि किस प्रकार ये मत अन्य मतों से प्रभावित होकर नया रूप ग्रहण करते आए हैं। जो लोग धर्म मत को अनादि और सनातन मानते हैं वे भूल जाते हैं कि सभी धर्म विश्वास बदलते रहे हैं, कभी कभी उनके स्थान पर

एकदम नवीन विश्वास ने प्रतिष्ठा पाई है और कभी-कभी उनमें संस्कार हुआ है और उन्हें नया रूप प्राप्त हो गया है।

शास्त्र में कहा गया है—'धर्मस्य तत्त्वं निहितं गुहायाम्'। यह कथन ऐतिहासिक अर्थ में सत्य है। केवल धर्म-ग्रन्थों के अध्ययन से हम नहीं समझ सकते कि हमारे विश्वासों का वर्तमान रूप किस प्रकार प्राप्त हुआ है। और भी पारिपार्श्विक परिस्थितियों का ज्ञान होना चाहिए। पुरातत्त्व, भाषा-विज्ञान, नृतत्त्व-विज्ञान और इतिहास की अविच्छिन्न धारा का ज्ञान भी आवश्यक है। नाना स्तरों में विभाजित हमारी सम्पूर्ण जनता ही हमारे अध्ययन का मुख्य साधन है। धर्म का तत्त्व और भी गहराई में है। वह सचमुच ही गुहा में निहित है। अन्ध-तिमिरावृत गुहा में जो भी प्रकाश पहुँच सके वही धर्म-साधना के विद्यार्थी के लिए सम्माननीय है।

१५ : : श्री रामकृष्ण शुक्ल 'शिलीमुख'

साहित्य के गुण

साहित्य जब साहित्य कहलाने लगा तो वह सामाजिक वस्तु बन गया। ससार मे जिसे साहित्य के रूप मे पहचाना जाता है वह तभी बनता है जब हमारी उक्ति एकाधिक व्यक्तियों का अर्थात् वक्ता के अतिरिक्त श्रोता का भी लक्ष्य रखती है। इसका अभिप्राय यह है कि व्यक्तिगत आनन्दोद्गार को समाज ने अपने लिए स्वीकार किया तो उद्गार के लिए भी समाज को स्वीकार करना स्वाभाविक हो गया। अब समाज मे उद्गारी इस बात का भी लक्ष्य रखेंगे कि उनके द्वारा की गई जीवन की आवृत्ति—आनन्द का उद्गार—समाज के लिए भी जीवन की पुनरावृत्ति हो और उसके आनन्द का हेतु बने। यहाँ मालूम होता है कि समवेदना—समाज के मानसिक बोझो के साथ अपने मानसिक बोझों का आरोप—कल्पना—की प्रतिष्ठा साहित्य मे ही हो जानी चाहिए। यह स्वाभाविक पद्धति है। जीवन के सुख-दु खादिक मे व्यक्तिगत रूप-वैविध्य के होते हुए भी उनमे अत्यन्त समानता भी है, और उनकी अनुभूति तो सर्वत्र एक ही है। रूप वैविध्य से केवल अनुभूति की मात्रा पर असर पड सकता है अथवा व्यक्तिगत उद्गारों के ढंगों मे विभिन्नता आ सकती है, परन्तु अनुभूति के जिस मूल तत्त्व की व्यजना

होगी वह सर्व-सामान्य ही है। इस बात को समाज ने समझा और फिर धीरे-धीरे कुछ ऐसे सर्व-साधारण प्रमुख अनुभूति-सूत्रों को ढूँढ़ लिया जिनको लेकर साहित्य सामाजिक बन सकता है। ये सूत्र बोझिल मानव-हृदय के कुछ चिरबन्धी भार-तत्त्व हैं, जिनकी अनुभूतियों को आठ-नौ स्थायी भावों के नाम से पुकारा गया है।

सामाजिक जीवन का रूप व्यवहार है। शुद्ध ऐकान्तिक आनन्दोद्‌गार व्यक्ति का साहित्य है और वह व्यावहारिकता का अपेक्षी नहीं है। परन्तु सामाजिक साहित्य व्यवहार की उपेक्षा कैसे करेगा? फलतः समवेदना और कल्पना का युग्म, व्यक्ति-हृदय के बोझ के साथ उद्‌गीरक के हृदय के बोझ का आरोप कराता हुआ, समाजगत सम्बन्धों और व्यवहारों के साथ भी अवश्य तादात्म्य तलाश करेगा। सामाजिक सम्बन्धों की दृष्टि से वह आदर्शोन्मुख होगा, सामाजिक व्यवहारों की दृष्टि से वह यथार्थोन्मुख। आदर्श और यथार्थ में से किसीकी अति-रंजना न हो जाय, दोनों में सन्तुलित सामञ्जस्य रहे, इसका उत्तरदायित्व कल्पना और समवेदना के निजी सामञ्जस्य पर है। यह होगा तो साहित्य 'कान्तासम्मिततयोपदेशयुक्' होगा और अपनी सामाजिकता की सार्थकता में समञ्जस 'व्यवहारविद्' होकर वह 'यशसे', 'अर्थकृते' और 'शिवेतरक्षतये' होगा।

जब तक साहित्य में सामंजस्य-गुण रहे तब तक 'आदर्श' और 'यथार्थ' शब्दों में प्रयोग की आवश्यकता ही न पड़ी। परि-स्थितियों के प्रभाव से जब सामंजस्य-गुणों का ह्रास हुआ तो एक या दूसरे की अतिरंजना में एक-दूसरे का विवाद आरम्भ हुआ और 'यथार्थवाद' तथा 'आदर्शवाद' जैसी दो चीजों की साहित्यिक उद्देश्यों में प्रतिष्ठा हुई। परन्तु इन दोनों के विवाद में यहाँ न पड़कर इतना तो अवश्य कहा जा सकता है कि आनन्द

और उद्गार—जीवन की पुनरावृत्ति—के मूल तत्वों की प्रतिष्ठा में सामाजिक यथार्थ व्यवहार की स्वाभाविकता तो अनिवार्य ही है।

और, सामाजिक जीवन में जबतक स्पर्धा (Competition) का भाव पैदा नहीं होता तब तक सामाजिक संबंधों में नैसर्गिकता भी रहती है, जिसमें आनन्दोद्गार-वृत्ति सामाजिक सम्बन्ध सम्बन्धी किन्हीं अति कल्पित आदर्शों का आविष्कार नहीं कर पाती। ऐसा यदि वह करे तो व्यावहारिक जीवन की आवृत्ति नहीं बनती, क्योंकि फिर उससे व्यवहार की स्वाभाविकता नहीं रहती, और फलतः आनन्दोद्गार आनन्दोद्गार नहीं रहता! अतः स्वाभाविकता में सामाजिक व्यक्ति के व्यवहार को अक्षुण्ण रखती हुई हमारी आनन्दोद्गार-प्रकृति अपने प्राक्सामाजिक प्राकृतिक जीवन की सम्वेदनाओं को, उन्हें कौतुक से देखती हुई, सम्बन्धों के आदर्श में चरितार्थ करती है। यह कौतुकवृत्ति आनन्द की सहधर्मिणी और संवेदन तथा स्वाभाविक कल्पना की सहोदरा है और सद्यःपरनिर्वृति में अत्यधिक सहायक होती है।

ध्यान रखना चाहिए कि कौतुक कौतुक ही है, उसकी कौतुकता ही उसका निमित्त और उपादान है। अतः वह सामाजिक जीवन की पुनरावृत्ति में बाधक नहीं होता और साथ ही किसी अन्य अतिक्रान्त जीवन-वृत्त की पुनरावृत्ति करता है। यह बात न होती तो हम बाजीगरों के खेल भी न देखा करते। साहित्य में इस प्रकार की कौतूहल-वृत्ति को आजकल 'रोमांस' (Romance) कहा जाता है, जो प्रारम्भिक युगों के सामाजिक साहित्य का आदर्श है। देखिए, लगभग सब देशों का समस्त प्रारम्भिक साहित्य रोमांटिक दृष्टिकोण रखता है। वर्तमान युगों का सामाजिक सम्बन्ध सम्बन्धी आदर्शवाद सामाजिक कल्पना का सहोदर नहीं है, वह व्यक्ति की स्पर्धा की एक उपज है। इसलिए उसमें न तो जीवन-व्यवहार की स्वाभाविकता (पुनरावृत्ति) ही

है और न रोमान ही। वह आनन्द का मूल हेतु नहीं बन पाता और समाज द्वारा नहीं ग्रहण किया जाता, जिसकी प्रतिक्रिया मे समाज मे अतिरंजित यथार्थवाद की रचनाएँ होने लगती हैं। पिछले पचीस-तीस वर्ष के हिन्दी-साहित्य मे इस क्रिया-प्रतिक्रिया के काफी उदाहरण मिलेंगे।

अब तक की विचारणा द्वारा जीवन की आवृत्ति को लेकर आनन्दोद्गार-स्वरूपी साहित्य के सहज (अर्थात् जीवनावृत्ति, आनन्द और उद्गार की वृत्तियों से प्रतिफलित) गुणों की सूची में हमे जो तत्त्व प्राप्त हुए हैं—कल्पना, कौतुक (आदर्श) और स्वाभाविकता (यथार्थ)—उनके समायोग के लिए, उन्हीं के समाहार मे, हम स्पष्टता (clarity और frankness) का नाम भी ले सकते हैं। वस्तुत स्पष्टता इन गुणों की निर्व्याजता की कसौटी है। जिस साहित्यिक कृति मे उद्गार की स्पष्टता है उसमे उद्गार का प्रभाव (आनन्द का सान्निध्य) भी अवश्य रहेगा, जिसका मतलब यह होता है कि उसमे जीवनावृत्ति, सकल्प कौतुक और स्वाभाविकता के तत्व भी अवश्य होंगे।

यह स्पष्टता केवल व्याकृत वाणी पर ही निर्भर नहीं है। व्याकरण-सिद्ध वाक्य सामाजिक व्यवहार मे सुकरता अवश्य उत्पन्न करते हैं, परन्तु बहुत से अवसरों पर, विशेषत उद्गार के अवसरों पर, अव्याकृत उक्तियों मे ही अधिक बल दृष्टिगोचर होता है। उद्गार की मूल प्रणाली, लययुक्त वाणी या पद्यवाक् अव्याकृत ही है। दैनिक व्यवहार की बातचीत मे भी व्याकरण पर अधिक ध्यान कितने लोग दे पाते हैं। तब हमारे लिए यह देखना आवश्यक हो जाता है कि सामाजिक साहित्य की स्पष्टता का रूप कल्पना, कौतुक और स्वाभाविकता के सहयोग मे किस प्रकार निर्धारित होता है।

स्पष्टता का अर्थ तो सीधा है। दैनिक व्यवहार की बातचीत

करना है। अपनी गरज़ को समाज की, श्रोताओं की गरज़ बनाने का अर्थ होता है श्रोताओं की सामान्य रुचि को समझना (स्वाभाविकता) या फिर श्रोताओं में एक सामान्य रुचि पैदा करना (आदर्श)। समाज-रूप सामूहिक श्रोता का भी बोलने वाले के लिए वही स्थान है जो कभी दरबारी कवियों के लिए 'दरबार' का होता था। परन्तु 'दरबार' अधिकतर एक व्यक्ति होता था, अत: दरबारी कवि को अपनी आजीविका के लिए उस एक व्यक्ति का दास बनना पड़ता था, जिसके कारण उसकी बोली उसके अपने बोझ का लिहाज़ शायद बिलकुल न कर पाती होगी और इसलिए सही उद्‌गार भी न बन पाती होगी। सामाजिक वक्ता एक व्यक्ति की रुचि का दास नहीं, पर समाज की व्यापक रुचि की वह अवहेलना नहीं कर सकता। इसीलिए हम देखते हैं कि संसार के साहित्य में शृङ्गारी रचनाओं का इतना बाहुल्य है।

स्थूल सामूहिक रुचि को देख लेना तो अधिक कठिन नहीं है। परन्तु जब सब कोई समूह-सम्बन्धी एक ही बात को एक ही तरह देखने लगते हैं तो समूह की ग्राहिका-वृत्ति में से सम्वेदना जाती रहती है—वह कुण्ठित सी होने लगती है। सुबह से शाम तक यदि आपसे एक के बाद एक असंख्य व्यक्ति बराबर कहते रहें कि आप तो बड़े सुन्दर हैं तो क्या अन्तिम या मध्य के भी कहने वाले के शब्दों का कोई अर्थ आप ग्रहण कर सकेंगे? और यदि कर भी सकेंगे तो क्या उसी तरह जिस तरह सर्वप्रथम कहने वाले के अर्थ को आपने ग्रहण किया था? दूसरे शब्दों में, इन बाद के कहने वालों के शब्द आपके लिए अस्पष्ट हो उठेंगे। यह अस्पष्टता साहित्य की वही निर्गुणता है, जिसके कारण किसी भी हेतु से, कहने वाले की बात को हम उसके पूर्ण प्रभाव के साथ ग्रहण नहीं कर पाते। भारत के रीतिकालीन कवियों का शृङ्गार श्रोता की रति-ग्राहकता के सात्विक उद्दीपन में समर्थ नहीं है।

इसमें सन्देह नहीं कि सामाजिकता मानवता, मानवीय हृदय-परता का प्रतिबन्ध है। परन्तु मानवता सामाजिकता का विस्तार है। लोक-रुचि की दासता एक बात है और अपने उद्‌गार को लोक-रुचि का अनुमोदी बनाना दूसरी। रीतिकालीन कवियों या अन्य चवन्नी-कथकों ने श्रोता की गरज को अपनी गरज बनाया, अपनी गरज को श्रोता की नहीं। कुम्हार का लड़का भी शायद इस बात को समझता होगा कि घड़ा खरीदने वाले की गरज का केवल दास बना रहकर वह हर समय उसे घड़ा नहीं देता रह सकता। परन्तु कुम्हार के लड़के में यदि सौन्दर्य-उद्‌गार (कहने की गरज, आनन्दोद्‌गार) की वृत्ति है तो उसके द्वारा वह घड़ा खरीदने वाले की गरज का अनुमोदन करता हुआ भिन्न-भिन्न प्रकार के सुराही-गिलास आदि बाद में भी उसे दे सकता है। इस भाँति यदि साहित्यकार के पास सात्विक उद्‌गार हैं तो समाज की सीमाओं का आदर करता हुआ भी वह मानवता के विस्तारी अधिकार से उन सीमाओं को विस्तृत कर सकता है, समाज की रुचि को नये ढंग से ढाल भी सकता है। तुलसीदास और 'प्रसाद' ने लोक-रुचि की अवहेलना नहीं की। परन्तु वे उसे ढाल सके, या कहिए कि उन्होंने उसके मूल प्रवाह का ध्यान रखते हुए, अपने उद्‌गार और लोक-रुचि को परम्परानुमोदी बनाते हुए, मौके से उसमें से नहर काटी है। अपनी गति पाकर वह नहर यदि मूल-प्रवाह से अधिक वेगवती और मनोहारिणी बन जाय तो नहर काटने वाला बधाई का पात्र है। सारांश यह है कि सामाजिक रुचि की विस्तारशील व्यापकता में वक्ता के निजी बोधों और उद्‌गारों के लिए उस हद तक की पूरी गुञ्जाइश है, जिस हद तक वे समाज के व्यापक, मानव-सामान्य बोधों के अनुमोदी हैं। मानवता और सामाजिकता की [illegible] पारस्परिक प्रतिक्रिया में इन दोनों का निरन्तर नवीन

संगठन होता रहता है, जिसमें व्यक्तिगत उद्गार को अपनी शक्ति से नहर काटने के लिए प्रायः अवसर मिलता रह सकता है और इसी नहर काटने में नवीनतर संगठनों की वास्तविकता का प्रतिरूपण भी देखा जा सकता है। आदर्श और यथार्थ का यह मनोहर सम्मिलन है।

मध्यदेशीय संस्कृति और हिन्दी-साहित्य

किसी जाति का साहित्य उसके शताब्दियों के चिन्तन का फल होता है। साहित्य पर भिन्न-भिन्न कालों की संस्कृति का प्रभाव अनिवार्य है। इस प्रकार किसी भी जाति के साहित्य के वैज्ञानिक अध्ययन के लिए उसकी संस्कृति के इतिहास का अध्ययन परमावश्यक है। इसी सिद्धान्त के अनुसार अंग्रेजी आदि यूरोपीय साहित्यों का सूक्ष्म अध्ययन करने वालों को उन भाषा-भाषियों की संस्कृति के इतिहास का भी अध्ययन करना पड़ता है। यही बात हिन्दी-साहित्य के अध्ययन के सम्बन्ध में भी कही जा सकती है। हिन्दी-साहित्य के ठीक अध्ययन के लिए भी हिन्दी-भाषियों की संस्कृति के इतिहास का अध्ययन अत्यन्त आवश्यक है।

यहाँ पर यह प्रश्न उठाया जा सकता है कि क्या हिन्दी-भाषियों की संस्कृति भारतीय संस्कृति से कोई पृथक् वस्तु है? इस प्रश्न के उत्तर में यह निःसंकोच भाव से कहा जा सकता है कि भारतवर्ष की व्यापक संस्कृति में सन्निहित होने पर भी समस्त प्रधान अंगों में हिन्दी-भाषियों की एक पृथक् संस्कृति अवश्य है। प्राचीन भारतवर्ष के इतिहास के अनुशीलन से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि भारतीय एकता में अनेकरूपता बराबर छिपी रही है। सम्पूर्ण भारतवर्ष को एक महाद्वीप अथवा राष्ट्र-संघ की संज्ञा देना ही

उपयुक्त होगा। इस राष्ट्रसघ के अन्तर्गत कई राष्ट्र है जिनमे से प्रत्येक का पृथक् व्यक्तित्व है। इस पार्थक्य का प्रभाव इन राष्ट्रो की सस्कृति—जैसे भाषा एव साहित्य आदि—पर समुचित रूप से पडा है। धर्म के व्यावहारिक रूप भाषा तथा साहित्य के क्षेत्रों में सस्कृति का यह भेद स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर होता है। उदाहरणार्थ बंगाल और उत्तर प्रदेश की सस्कृति का मूल स्रोत यद्यपि एक ही है, बगाली तथा हिन्दी भाषी दोनों भारतीय हैं, किन्तु बगाल मे दुर्गा अथवा शक्ति की और उत्तर प्रदेश मे राम कृष्ण की ही उपासना का प्राधान्य है। सक्षेप मे यह कहा जा सकता है कि मूल मे एकता होने पर भी व्यवहार मे पार्थक्य है। यह पार्थक्य राष्ट्रीय जीवन के अन्य अगों मे भी दृष्टिगोचर होता है। हिन्दी आज सम्पूर्ण भारतवर्ष की राष्ट्रभाषा होने जा रही है, विश्ववन्द्य महात्मा गाधी तथा कवीन्द्र रवीन्द्र इसे स्वीकार करते थे, किन्तु फिर भी ठाकुर महोदय ने अपनी समस्त साहित्यिक कृतियाँ बॅगला में एव महात्माजी ने गुजराती मे लिखी है, हिन्दी मे नहीं। जिस प्रकार व्यापक दृष्टि से समस्त यूरोप की एक संस्कृति है, किन्तु साथ ही फ्रांस, जर्मनी, इटली आदि अनेक राष्ट्र हैं जिनकी अलग अलग सस्कृति सम्बन्धी विशेषताएँ हैं, उसी प्रकार इस भारतीय महाद्वीप मे भी बंगाल, गुजरात, आध्र, महाराष्ट्र आदि राज्य-सज्ञक अनेक राष्ट्र है जो सस्कृति की दृष्टि से अपनी स्वतन्त्र सत्ता रखते हैं। इसी भाति हिन्दी भाषियों की भी एक पृथक् सस्कृति है। उसी सस्कृति पर यहाँ सक्षेप से कुछ विचार प्रकट किये जायगे। इस लेख मे सुविधा के लिए हिन्दी तथा हिन्दी भाषियों के लिए हिन्दी तथा हिन्दी भाषी प्रदेश के लिए हिन्द या मध्य देश शब्द का प्रयोग किया गया है।

सबसे पहले इस बात पर विचार करने की आवश्यकता है कि हिन्दी-भाषियों की भौगोलिक सीमा क्या है। आधुनिक काल

मे भारतवर्ष की राजभाषा अंग्रेजी है। मुगल काल मे फारसी इस आसन पर आसीन थी। किन्तु फारसी और अंग्रेजी कभी भी राष्ट्रभाषा का स्थान न ले सकीं। वे केवल राजभाषाएँ थीं और हैं। राष्ट्रभाषा अन्तर्राज्यीय उपयोग की भाषा होती है। जब से भारतवर्ष मे व्यापक राष्ट्रीयता का आन्दोलन प्रचलित हुआ है, तब से हिन्दी राष्ट्रभाषा अथवा अन्तर्राज्यीय भाषा के स्थान को लेने के लिए निरन्तर अग्रसर होती जा रही है। तो भी बंगाल, महाराष्ट्र, आंध्र एवं गुजरात आदि की शिक्षित जनता बंगला, मराठी, तेलुगु और गुजराती आदि मे ही अपने मनोभावों को प्रकट करती रही है। ये भाषाएँ अपने अपने प्रदेशों की साहित्यिक भाषाएँ हैं। इस तरह राजभाषा, राष्ट्रभाषा तथा साहित्यिक भाषाएँ तीन पृथक बात हुईं। साहित्यिक भाषा ही किसी प्रदेश की असली भाषा कही जा सकती है, राजभाषा या राष्ट्रभाषा नहीं। अस्तु, वास्तव मे उन्हीं प्रदेशों को हिन्दी भाषी की संज्ञा से सम्बोधित करना चाहिए जहाँ शिष्ट लोग अपने विचारों की अभिव्यक्ति हिन्दी मे करते हैं तथा जहाँ की साहित्यिक भाषा हिन्दी है। भारत के मानचित्र को देखने से यह बात स्पष्ट हो जायगी कि उत्तर प्रदेश, दिल्ली, हिन्दी मध्यप्रदेश, राजस्थान, बिहार तथा मध्यभारत के राज्यों का भूमिभाग ही इसके अन्तर्गत आ सकता है। इसीको हम हिन्द प्रदेश या प्राचीन परिभाषा मे मध्यदेश कह सकते हैं। यह सच है कि इस प्रदेश के कतिपय भागों मे हिन्दी को साहित्यिक भाषा के रूप मे मानने के सम्बन्ध मे जब-तब विरोध सुनाई पडता है। उदाहरणार्थ—बिहार राज्य मे मैथिल पंडितों का एक दल मैथिली को तथा राजस्थान के मारवाड प्रदेश के कुछ विद्वान् डिंगल को ही इस क्षेत्र की साहित्यिक भाषा के लिए उपयुक्त समझने लगे हैं। यह विरोध कदाचित् क्षणिक है, किन्तु यदि ये प्रदेश हिन्दी के साहित्यिक प्रभाव

के क्षेत्र से अलग भी हो जायँ तो भी हिन्द या मध्यदेश की भौगोलिक सीमा को कोई भारी क्षति नहीं पहुँचती। शेष प्रदेश हिन्द या मध्यप्रदेश की संज्ञा ग्रहण करता रहेगा।

अब हमें यह देखना है कि 'संस्कृति' क्या वस्तु है तथा इसके मुख्य अंग क्या हैं ? संक्षेप में संस्कृति के अन्तर्गत निम्नलिखित चार मुख्य अंगों का समावेश किया जा सकता है—(१) धर्म, (२) साहित्य, (३) राजनीतिक परिस्थिति तथा (४) सामाजिक संगठन। ये चार कसौटियाँ हैं, जिनसे संस्कृति के इतिहास का पता लगता है। इनमें से धर्म के अन्तर्गत दर्शन, साहित्य में भाषा तथा सामाजिक संगठन में जाति-व्यवस्था एवं शिक्षा-कला आदि का भी समावेश हो सकता है। हमारी संस्कृति का इतिहास बहुत पुराना है। यों तो यूरोप में ग्रीस तथा रोम की सभ्यता बहुत पुरानी मानी जाती है, किन्तु मध्यदेशीय संस्कृति तो इस ग्रीस तथा रोम की सभ्यता से भी बहुत पुरानी है। इतनी पुरानी सभ्यता के इतिहास पर इस अल्प समय में पूर्ण प्रकाश नहीं डाला जा सकता। अतएव यहाँ संक्षेप में ही उसका दिग्दर्शन कराया जायगा।

सुविधा की दृष्टि से इस संस्कृति के इतिहास को तीन युगों में विभक्त किया जा सकता है—प्राचीन, मध्य तथा आधुनिक। आधुनिक युग का आरम्भ तो उस काल से होता है जब हमारी संस्कृति पर पाश्चात्य सभ्यता का प्रभाव पड़ने लगा था, इसे अभी बहुत थोड़े दिन हुए। लगभग सम्वत् १८०० से इसका आरम्भ समझना चाहिए। मध्ययुग का समय वि० सं० १ से सं० १८०० तक समझना चाहिए और प्राचीन युग का विक्रमी सम्वत् के प्रारम्भ से १२०० वर्ष पूर्व तक। इस प्राचीन युग का भी एक प्रकार से प्रामाणिक इतिहास मिलता है। इससे पूर्व के समय को प्रागैतिहासिक युग में रख सकते हैं। इतने दीर्घकाल के इतिहास पर विहंगम दृष्टि से भी विचार करना सरल नहीं है।

यह पहले ही कहा जा चुका है कि संस्कृति की दृष्टि से मध्य-देश का इतिहास अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। वैदिक संस्कृति का तो यह एक प्रकार से उद्गम है। मध्यदेश की संस्कृति को ही यदि सम्पूर्ण भारतवर्ष की संस्कृति कहें तो इसमें कुछ भी अत्युक्ति न होगी। प्राचीन युग में ऋक्, यजु, साम आदि वेदों की संहिताओं, ब्राह्मण ग्रन्थों, आरण्यकों तथा उपनिषदों आदि की रचनाएँ हुईं। इसके पश्चात् यज्ञों की रूढ़ियों आदि के कारण एक प्रतिक्रिया हुई, जिसके फलस्वरूप बौद्ध तथा जैन धर्मों की उत्पत्ति हुई। प्राचीन वैदिक धर्म के सुधार-स्वरूप ही ये दो नवीन धर्म उत्पन्न हुए थे। इन सुधार आन्दोलनों के साथ साथ उसी समय एक 'वासुदेव-सुधार' आन्दोलन भी प्रचलित हुआ, जिसने बाद में वैष्णव धर्म का रूप ग्रहण किया।

यदि संहिता-काल के धर्म पर विचार किया जाय तो यह बात स्पष्ट विदित होगी कि उस काल में उपासना के क्षेत्र में प्रकृति के भिन्न भिन्न रूपों में परम सत्ता को देखने की ओर ही आर्यों का विशेष लक्ष्य था। उस काल में मन्दिर आदि पूजा-स्थानों का अभाव था। उदाहरणार्थ, प्रातःकालीन लालिमा के दर्शन करके आर्य ऋषि आनन्द विभोर हो उठते थे, जिसके फलस्वरूप उषा के स्तवन में अनेक ऋचाएँ उनके गद्‌गद् कण्ठ से निःसृत हुईं। इसके पश्चात् यज्ञों की प्रधानता का समय आया, जिनमें धीरे धीरे कर्मकाण्ड और पशु-बलि की प्रधानता हो गई। जैसा ऊपर संकेत किया जा चुका है, सुधारवाद के आन्दोलनों ने—जिनमें बौद्ध, जैन तथा वासुदेव सुधार सम्मिलित हैं—यज्ञ-काल के कर्मकाण्ड तथा हिंसा के विरुद्ध प्रचार किया।

अपनी संस्कृति के इतिहास के मध्यकाल में अनेक पुराणों—जैसे विष्णु-पुराण, अग्नि-पुराण, श्रीमद्भागवत इत्यादि—की सृष्टि हुई। इसी काल में ब्रह्मा, विष्णु तथा महेश, इस देवत्रयी

की प्रधानता धर्म के क्षेत्र में हुई। आगे चलकर जब इस पौरा-णिक धर्म में भी परिवर्तन हुआ तो शिव के साथ उमा की उपा-सना अनिवार्य हो उठी। तांत्रिक युग में काली रूप में इन्हीं उमा का हमें दर्शन होता है। पन्द्रहवीं-सोलहवीं शताब्दी मे भक्तिवाद की एक प्रचण्ड लहर लगभग समस्त भारत को आप्लावित कर देती है। इसमें निर्गुण तथा सगुण दोनों प्रकार की भक्ति का समावेश है। सगुण भक्ति भी आगे चलकर राम तथा कृष्ण शीर्षक दो शाखाओं मे विभक्त हो गई।

आधुनिक युग का निश्चयात्मक रूप अभी हम लोगों के सम्मुख नहीं आया है। सच तो यह है कि मनुष्य की तरह संस्कृति की भी एक आयु होती है। किन्तु यह आयु लगभग पचास-साठ वर्ष की न होकर पाँच-छः सौ वर्ष की होती है। एक प्रधान लक्षण, जो आधुनिक संस्कृति मे दिखाई पड़ता है, वह है एक बार फिर सुधार की ओर झुकाव। आर्यसमाज के प्रवर्त्तक स्वामी दयानन्द की प्रेरणा से प्राचीन आर्य-धर्म का एक परिष्कृत रूप मध्यप्रदेश की जनता के सामने आ चुका है। हिन्दी-साहित्य एवं भाषा पर भी इसका प्रभाव पड़ा है।

यदि विचारपूर्वक देखा जाय तो यह बात विदित होगी कि हिन्दी-साहित्य का एक चरण मध्ययुग मे तथा दूसरा चरण आधुनिक युग मे है। एक ओर यदि रीतिकाल का आश्रय लेकर कवित्त-सवैयों मे रचना हो रही है तो दूसरी ओर छायावाद तथा रहस्यवाद के रूप मे काव्य की नवीन धारा प्रवाहित हो रही है। धर्म की भी यही दशा है। यद्यपि देश, काल तथा परि-स्थिति की छाप आधुनिक धर्म पर लग चुकी है, फिर भी कई बातों मे हम लोग मध्ययुग के धर्म से अभी तक बहुत ही कम अग्रसर हो पाए हैं।

विश्लेषणात्मक ढंग से हिन्दी साहित्य के इतिहास पर विचा

सोलहवीं शताब्दी में ही हो सका।

आधुनिक युग में धर्म का प्रभाव क्षीण हो रहा है। अतएव आधुनिक हिन्दी-साहित्य में भी धार्मिकता की विशेष पुट नहीं है। आजकल हिन्दी में रहस्यवाद, छायावाद आदि अनेक वाद प्रचलित हैं। यदि इन वादों में कहीं ईश्वर की सत्ता है भी, तो निर्गुण रूप में ही है। इधर कवीन्द्र रवीन्द्र पर कबीर की गहरी छाप है और आधुनिक हिन्दी कविता बंगाली रचनाओं से बहुत कुछ प्रभावित हुई है। इस प्रकार धर्म के विषय में इतना ही कह सकते हैं कि पौराणिक तथा भक्ति-धाराएँ ही प्रधानतया हिन्दी-कवियों के सम्मुख उपस्थित रही हैं।

जैसी परिस्थिति हम धार्मिक प्रभावों के सम्बन्ध में पाते हैं, लगभग वैसी ही परिस्थिति साहित्य के क्षेत्र में भी पाई जाती है। वैदिक साहित्य का हिन्दी-साहित्य पर कुछ भी प्रभाव नहीं है। शैली, छन्द तथा साहित्यिक आदर्श, किसी भी रूप में, वैदिक साहित्य का प्रभाव हिन्दी साहित्य पर दृष्टिगोचर नहीं होता। पौराणिक साहित्य से हिन्दी-साहित्य अवश्य प्रभावित हुआ है। पुराणों में भी श्रीमद्भागवत ने विशेष रूप से हिन्दी-साहित्य को प्रभावित किया। कथानक के रूप में रामायण तथा महाभारत से भी हिन्दी साहित्य बहुत प्रभावित हुआ है। राम तथा कृष्ण काव्य सम्बन्धी अनेक आख्यान संस्कृत इतिहास और पुराणों से हिन्दी-साहित्य में लिये गए हैं।

संस्कृत साहित्य का मध्ययुग वास्तव में महाकाव्यों का युग था। इस काल में संस्कृत में अनेक महाकाव्यों, खण्डकाव्यों तथा नाटकों की रचनाएँ हुईं। साधारणतया इन महाकाव्यों का भी प्रभाव हिन्दी साहित्य पर पड़ा है। यह बात दूसरी है कि हिन्दी के महाकाव्यों में मानव-जीवन की उस अनेकरूपता का एक प्रकार से अभाव है जो संस्कृत महाकाव्यों में स्वाभाविक

रूप में विद्यमान है। केशव की 'रामचन्द्रिका' लक्षण-ग्रन्थों के अनुसार महाकाव्य अवश्य है, किन्तु उसमें जीवन की वे परिस्थितियाँ कहाँ, जो महाकाव्य के लिए अपेक्षित हैं। संस्कृत के रीति-ग्रन्थों का भी हिन्दी-रीति-ग्रन्थों पर पर्याप्त प्रभाव पड़ा है। हिन्दी के कई रीति-ग्रन्थ तो संस्कृत काव्य-शास्त्र सम्बन्धी ग्रन्थों के केवल रूपान्तर-मात्र हैं।

विचार करने से यह बात स्पष्ट विदित होती है कि आधुनिक हिन्दी-साहित्य का रूप अभी तक अव्यवस्थित तथा अस्थिर है। इस युग के प्रायः अधिकांश नाटक संस्कृत के अनुवाद-मात्र हैं। मौलिक नाटकों की रचना का यद्यपि हिन्दी में आरम्भ हो चुका है, किन्तु मौलिकता की जड़ें पक्की नहीं हो पाई हैं। हिन्दी के कई नाटकों पर द्विजेन्द्रलाल राय की शैली की स्पष्ट छाप है। बर्नार्डशा जैसे अंग्रेजी के आधुनिक नाटककारों का अनुकरण भी दिन-दिन बढ़ रहा है। इस प्रकार आधुनिक हिन्दी-नाटक तेजी से आधुनिकता की ओर झुक रहे हैं।

एक स्थान पर इस बात का संकेत किया जा चुका है कि आधुनिक हिन्दी-साहित्य का एक पैर अभी तक मध्य-युग में है। यह बात प्राचीन परिपाटी के नवीन काव्य-ग्रन्थों से स्पष्टतया सिद्ध हो जाती है। आधुनिक व्रजभाषा के अधिकांश काव्य-ग्रन्थों में धार्मिकता तथा साहित्यिकता प्रचुर मात्रा में विद्यमान है। रीति-ग्रन्थों का भी लोप नहीं हुआ। श्री अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध' ने 'रस-कलश' के रूप में इस विषय पर एक वृहत् ग्रन्थ हिन्दी-साहित्यिकों के लिए प्रस्तुत किया था।

हिन्दी-साहित्य का अध्ययन करने वालों को एक बात विशेष रूप से खटकती है और वह है राजनीति तथा समाज की ओर कवियों की उपेक्षा-वृत्ति। कवि अपने काल का प्रतिनिधि होता है। उसकी रचना में तत्कालीन परिस्थितियों के सजीव चित्र की अभि-

व्यञ्जना रहती है। किन्तु जब हम इस दृष्टि से हिन्दी साहित्य और विशेषतया पद्यात्मक रचनाओं का सिंहावलोकन करते हैं तो हमें बहुत निराश होना पड़ता है। यह परिस्थिति कुछ कुछ पहले भी थी और आज भी कायम है। सूरदास, नन्ददास आदि कृष्ण भक्त तथा बाद के आचार्य कवियों के अध्ययन से यह स्पष्टतया परिलक्षित होता है कि मानो इन्हें देश, जाति तथा समाज से कोई वास्ता ही न था। मथुरा-वृन्दावन आगरा के अत्यन्त समीप हैं, किन्तु देश की राजनीतिक समस्याओं का इन भक्त कवियों की रचना पर कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ा। यह हिन्दियों तथा हिन्दी साहित्य दोनों के लिए दुर्भाग्य की बात है। जब हम मध्यकाल के मराठी साहित्य का अनुशीलन करते हैं तो इसमें देश प्रेम तथा जातीयता की भावना पर्याप्त मात्रा में पाते हैं। शिवाजी के राजनीतिक गुरु समर्थ रामदास में तो देश तथा जातीयता के भावों का बाहुल्य था। हिन्दी के मध्ययुग में लाल तथा भूषण दो ही ऐसे प्रधान कवि हैं, जिनमें इस प्रकार के कुछ भाव विद्यमान हैं, यद्यपि इनका दृष्टिकोण अत्यन्त सकीर्ण है। आज भी हिन्दी के ललित साहित्य में राजनीति तथा समाज की उपेक्षा हो रही है। नाटकों, उपन्यासों तथा कहानियों में सामाजिक अग पर अब कुछ प्रकाश पड़ने लगा है, किन्तु हमारे आधुनिक कवि तथा लेखक राजनीतिक सिद्धान्तों और समस्याओं की ओर न जाने क्यों आकृष्ट नहीं होते। इसके लिए देश की वर्तमान परिस्थिति को ही हम दोषी ठहराकर उन्मुक्त नहीं हो सकते। किसी भी देश के लिए यह अत्यन्त आवश्यक है कि देश की सस्कृति के विविध अगों तथा समस्त प्रमुख समस्याओं पर गम्भीरतापूर्वक विचार किया जाय।

हिन्दी साहित्य में आगे चलकर कौन विचारधारा प्रधान रूप से प्रवाहित होगी, इसे निश्चित रूप से बतलाना अत्यन्त कठिन

है; किन्तु इतना तो अवश्य कहा जा सकता है कि इसकी वर्तमान अवस्था में अवश्य परिवर्तन होगा। देश में प्राचीन संस्कृति की नींव अभी गहरी है, अतएव नवीन नींव की हमें आवश्यकता नहीं। आज तो केवल इस बात की आवश्यकता है कि प्राचीन नींव पर ही हम नवीन सुदृढ़ भवन-निर्माण करें।

रामा

रामा हमारे यहाँ कब आया, यह न मैं बता सकती हूँ और न मेरे भाई-बहन। बचपन मे जिस प्रकार हम बाबूजी की विचित्रता-भरी मेज से परिचित थे जिसके नीचे दोपहर के सन्नाटे मे हमारे खिलौनों की सृष्टि बसती थी, अपने लोहे के स्प्रिंगदार विशाल पलंग को जानते थे जिस पर सोकर हम कच्छमत्स्यावतार जैसे लगते थे और माँ के शंख-घड़ियाल से घिरे ठाकुरजी को पहचानते थे जिनका भोग अपने मुँह मे अन्तर्धान कर लेने के प्रयत्न में हम आधी आँखें मीचकर बगुले के मनोयोग से घण्टी की टन-टन गिनते थे, उसी प्रकार नाटे, काले और गठे शरीर वाले रामा के बड़े नखों से लम्बी शिखा तक हमारा सनातन परिचय था।

साँप के पेट जैसी सफेद हथेली और पेड़ की टेढ़ी-मेढ़ी गाँठदार टहनियों जैसी उँगलियों वाले हाथ की रेखा-रेखा हमारी जानी-बूझी थी, क्योंकि मुँह धोने से सोने के समय तक हमारा उनसे जो विग्रह चलता रहता था, उसकी अस्थायी सन्धि केवल कहानी सुनते समय होती थी। दस भिन्न दिशाएँ खोजती हुई उँगलियों के बिखरे कुटुम्ब को बड़े-बूढ़े के समान सँभाले हुए काले स्थूल पैरों की आहट तक हम जान गए थे, क्योंकि कोई

नटखटपन करके होले से भागने पर भी वे मानो पंख लगाकर हमारे छिपने के स्थान में जा पहुँचते थे।

शैशव की स्मृतियों में एक विचित्रता है। जब हमारी भाव-प्रवणता गम्भीर और प्रशान्त होती है तब अतीत की रेखाएँ कुहरे में से स्पष्ट होती हुई वस्तुओं के समान अनायास ही स्पष्ट से स्पष्टतर होने लगती है, पर जिस समय हम तर्क से उनकी उपयोगिता सिद्ध करके स्मरण करने बैठते हैं उस समय पत्थर फेंकने से हटकर मिल जाने वाली, पानी की काई के समान विस्मृति उन्हें फिर-फिर ढक लेती है।

रामा के संकीर्ण माथे पर खूब घनी भौंहें और छोटी छोटी स्नेह-तरल आँखें कभी कभी स्मृति पट पर अंकित हो जाती हैं और धुँधली होते होते एकदम खो जाती हैं। किसी थके झुँझलाए शिल्पी की अन्तिम भूल जैसी अनगढ़ मोटी नाक के साँस के प्रवाह से फैले हुए से नथुने, मुक्त हँसी से भरकर फूले हुए से होंठ तथा काले पत्थर की प्याली में दही की याद दिलाने वाली सघन और सफेद दन्त पंक्ति के सम्बन्ध में भी यही सत्य है।

रामा के बालों को तो आध इंच से अधिक बढ़ने का अधिकार ही नहीं था, इसीसे उसकी लम्बी शिखा को साम्य की दीक्षा देने के लिए हम कैंची लिये घूमते रहते थे। पर वह शिखा तो म्याऊँ का ठौर थी, क्योंकि न तो उसका स्वामी हमारे जागते हुए सोता था और न उसके जागते हुए हम ऐसे सदनुष्ठान का साहस कर सकते थे।

कदाचित् आज कहना होगा कि रामा कुरूप था, परन्तु तब उससे भव्य साथी की कल्पना भी हमें असह्य थी।

वास्तव में जीवन सौन्दर्य की आत्मा है, पर वह सामञ्जस्य की रेखाओं में जितनी मूर्तिमत्ता पाता है, उतनी विषमता में नहीं। जैसे जैसे हम बाह्य रूपों की विविधता में उलझते जाते

हैं, वैसे-वैसे इनके मूलगत जीवन को भूलते जाते हैं। बालक स्थूल विविधता से विशेष परिचित नहीं होता, इसीसे वह केवल जीवन को पहचानता है। जहाँ उसे जीवन से स्नेह-सद्भाव की किरणें फूटती जान पड़ती हैं, वहाँ वह व्यक्त विषम रेखाओं की उपेक्षा कर डालता है और जहाँ द्वेष, घृणा आदि के धूम से जीवन ढका रहता है वहाँ बाह्य सामञ्जस्य को भी ग्रहण नहीं करता।

इसीसे रामा हमे बहुत अच्छा लगता था। जान पड़ता है, उसे भी अपनी कुरूपता का पता नहीं था—तभी तो वह केवल एक मिर्जई और घुटनों तक ऊँची धोती पहनकर अपनी सुडौलता के अधिकांश की प्रदर्शनी करता रहता था। उसके पास सजने के उपयुक्त सामग्री का अभाव नहीं था, क्योंकि कोठरी मे अन्तर लगा लम्बा कुरता, बँधा हुआ साफा, बुन्देलखण्डी जूते और गँठीली लाठी किसी शुभ मुहूर्त की प्रतीक्षा करते जान पड़ते थे। उनकी अखण्ड प्रतीक्षा और रामा की अटूट उपेक्षा से द्रवित होकर ही कदाचित् हमारी कार्यकारिणी समिति मे यह प्रस्ताव नित्य सर्वमत से पास होता रहता था कि कुरते की बाँहों मे लाठी को अटकाकर खिलौनों का परदा बनाया जाय, डलिया जैसे साफे को खूँटी से उतारकर उसे गुडियों के हिंडोला बनने का सम्मान दिया जाय और बुन्देलखण्डी जूतों को हौज मे डालकर गुड्डों के जल-विहार का स्थायी प्रबन्ध किया जाय। पर रामा अपने अँधेरे दुर्ग के चर्र-मर्र मे डाटते हुए द्वार को इतनी ऊँची अर्गला से बन्द रखता था कि हम स्टूल पर खड़े होकर भी छापा न मार सकते थे।

रामा के आगमन की जो कथा हम बड़े होकर सुन सके, वह भी उसी के समान विचित्र है। एक दिन जब दोपहर को माँ बड़ी-पापड़ आदि के अक्षय कोष को धूप दिखा रही थीं तब न जाने

कर दुर्बल और क्लांत रामा आँगन के द्वार की देहली पर बैठकर किवाड़ से सिर टिकाकर निश्चेष्ट हो रहा। उसे भिखारी समझ जब उन्होंने निकट जाकर प्रश्न किया तब वह 'ए मताई ए रामा तो भूखन के मारे जो चलो' कहता हुआ उनके पैरों पर लेट गया। दूध-मिठाई आदि का रसायन देकर माँ जब रामा को पुनर्जीवन दे चुकीं तब समस्या और भी जटिल हो गई, क्योंकि भूख तो ऐसा रोग नहीं जिसमें उपचार का क्रम टूट सके।

वह बुन्देलखण्ड का ग्रामीण बालक विमाता के अत्याचार से भागकर माँगता-खाता इन्दौर तक जा पहुँचा, जहाँ न कोई अपना था और न रहने का ठिकाना। ऐसी स्थिति में रामा यदि माँ की ममता का सहज ही अधिकारी बन बैठा तो आश्चर्य क्या!

उस दिन सन्ध्या-समय जब बाबूजी लौटे तब लकड़ी रखने की कोठरी के एक कोने मे रामा के बड़े-बड़े जूते विश्राम कर रहे थे, दूसरे में लम्बी लाठी समाधिस्थ थी, और हाथ-मुँह धोकर नये सेवा-व्रत में दीक्षित हक्का-बक्का-सा रामा अपने कर्तव्य का अर्थ और सीमा समझने में लगा हुआ था।

बाबूजी तो उसके अनुरूप रूप को देखकर विस्मय-विमुग्ध हो गए। हँसते-हँसते पूछा, "यह किस लोक का जीव ले आए है, धर्मराज जी?" माँ के कारण हमारा घर अच्छा-खासा जू (चिड़ियाघर) बना रहता था। बाबूजी जब लौटते तब प्राय कभी कोई लँगड़ा भिखारी बाहर के दालान में भोजन करता रहता, कभी कोई सूरदास पिछवाड़े के द्वार पर खजरी बजाकर भजन सुनाता होता, कभी पड़ोस का कोई दरिद्र बालक नया कुरता पहनकर आँगन में चौकड़ी भरता दिखाई देता और कभी कोई वृद्धा ब्राह्मणी भण्डार-घर की देहली पर सीधा गठियाने मिलती।

बाबूजी ने माँ के किसी कार्य के प्रति कभी कोई विरक्ति नहीं प्रकट की, पर उन्हें चिढ़ाने में वे सुख का अनुभव करते थे।

रामा को भी उन्होंने क्षण-भर का अतिथि समझा, पर माँ शीघ्रता में कोई उत्तर न खोज पाने के कारण बहुत उद्विग्न होकर कह उठीं, "मैंने खास अपने लिए इसे नौकर रख लिया है।"

जो व्यक्ति कई नौकरों के रहते हुए भी क्षण-भर विश्राम नहीं करता, वह अपने लिए नौकर रखे, यही कम आश्चर्य की बात नहीं, उस पर भी ऐसा विचित्र नौकर। बाबूजी का हँसते-हँसते बुरा हाल हो गया। विनोद से कहा, "ठीक ही है, नास्तिक जिनसे डर जायँ ऐसे खास साँचे में ढले सेवक ही तो धर्मराज जी की सेवा में रह सकते हैं।"

उन्हें अज्ञात कुल-शील रामा पर विश्वास नहीं हुआ, पर माँ से तर्क करना व्यर्थ होता; क्योंकि वे किसीकी पात्रता-अपात्रता का मापदण्ड अपनी सहज समवेदना ही को मानती थीं। रामा की कुरूपता का आवरण भेदकर उनकी सहानुभूति ने जिस सरल हृदय को परख लिया, उसमें अक्षय सौन्दर्य न होगा, ऐसा सन्देह उनके लिए असम्भव था।

इस प्रकार रामा हमारे यहाँ रह गया, पर उसका कर्तव्य निश्चित करने की समस्या नहीं सुलझी।

सब कामों के लिए पुराने नौकर थे और अपनी पूजा और रसोईघर का कार्य माँ किसीको सौंप ही नहीं सकती थीं। आरती, पूजा आदि के सम्बन्ध में उनका नियम जैसा निश्चित और अपवादहीन था, भोजन बनाने के सम्बन्ध में उससे कम नहीं। एक ओर यदि उन्हें विश्वास था कि उपासना उनकी आत्मा के लिए अनिवार्य है तो दूसरी ओर दृढ़ धारणा थी कि उनका स्वयं भोजन बनाना हम सबके शरीर के लिए नितान्त आवश्यक है।

खोज में घूमती रहती थी। इतना कष्ट सहकर भी दूसरों को राजस्व या अधिकारी मानना अपनी असमर्थता का ढिंढोरा पीटना था, इसीसे मैं साम दाम-दण्ड-भेद द्वारा रामा को बाध्य कर देती कि वह केवल मुझको ही राजा कहे। रामा ऐसे महारथियों को सन्तुष्ट करने का अमोघ मन्त्र जानता था। वह मेरे कान में हौले से कहता, "तुमई बड़े राजा हो जू, नन्हे नइयाँ" और कदाचित् यही नन्हे के कान में भी दोहराया जाता; क्योंकि वह उत्फुल्ल होकर मंजन की डिबिया में नन्हीं उँगली डालकर दाँतों के स्थान में होठ माँजने लगता। ऐसे काम के लिए रामा का घोर निषेध था, इसीसे मैं उसे ऐसे गर्व से देखती मानो वह सेनापति की आज्ञा का उल्लंघन करने वाला मूर्ख सैनिक हो।

तब हम तीनों मूर्तियाँ एक पंक्ति में प्रतिष्ठित कर दी जातीं और रामा छोटे-बड़े चम्मच, दूध का प्याला, फलों की तश्तरी आदि लेकर ऐसे विचित्र और अपनी-अपनी श्रेष्ठता प्रमाणित करने के लिए व्याकुल देवताओं की अर्चना के लिए सामने आ बैठता। पर वह था बड़ा घाघ पुजारी। न जाने किस साधना के बल से देवताओं को आँख मूँदकर कौए द्वारा पुजापा पाने को उत्सुक कर देता। जैसे ही हम आँख मूँदते, वैसे ही किसीके मुँह में अंगूर, किसीके दाँतों में बिस्कुट और किसीके होठों में दूध का चम्मच जा पहुँचता। न देखने का तो अभिनय ही था, क्योंकि हम सभी अधखुली आँखों से रामा की काली-मोटी उँगलियों की कलाबाजी देखते ही रहते थे। और सच तो यह है कि मुझे कौए की काली, कठोर और अपरिचित चोंच से भय लगता था। यदि कुछ खुली आँखों से मैं काल्पनिक कौए और उसकी चोंच में रामा के हाथ और उँगलियों को न पहचान लेती तो मेरा भोग का लालच छोड़कर उठ भागना अवश्यम्भावी था।

थक चुके थे और मिठाइयों से सजे थालों मे कुछ कम निमन्त्रण नहीं था, इसीसे दूकान के एक कोने में बिछे टाट पर सम्मान्य अतिथि की मुद्रा मे बैठकर मैं वृद्धे से मिले मिठाई रूपी अर्घ्य को स्वीकार करती हुई उसे अपनी महान् यात्रा की कथा सुनाने लगी।

वहाँ मुझे ढूँढ़ते-ढूँढ़ते रामा के प्राण कण्ठगत हो रहे थे। सन्ध्या-समय जब सबसे पूछते-पूछते बड़ी कठिनाई से रामा उस दूकान के सामने पहुँचा तब मैंने विजय-गर्व से फूलकर कहा, "तुम इतने बड़े होकर भी खो जाते हो रामा!" रामा के कुम्हलाए मुख पर ओस के बिन्दु जैसे आनन्द के आँसू ढुलक पड़े। वह मुझे घुमा-घुमाकर सब ओर से इस प्रकार देखने लगा मानो मेरा कोई अंग मेले मे छूट गया हो। घर लौटने पर पता चला कि बड़ों के कोश में छोटों की ऐसी वीरता का नाम अपराध है, पर मेरे अपराध को अपने ऊपर लेकर डॉट-फटकार भी रामा ने सही और हम सबको सुलाते समय उसकी वात्सल्य-भरी थपकियों का विशेष लक्ष्य भी मैं ही रही।

एक बार अपनी और पराई वस्तु का सूक्ष्म और गूढ़ अन्तर स्पष्ट करने के लिए रामा चतुर भाष्यकार बना। बस फिर क्या था! कहाँ से कौनसी पराई चीज लाकर रामा की छोटी आँखों को निराश विस्मय से लबालब भर दें, इसी चिन्ता मे हमारे मस्तिष्क एकबारगी क्रियाशील हो उठे।

हमारे घर से एक ठाकुर साहब का घर कुछ इस तरह मिला हुआ था कि एक छत से दूसरी छत तक पहुँचा जा सकता था। हाँ, राह एक बालिश्त चौड़ी मुँडेर-मात्र थी, जहाँ से पैर फिसलने पर पाताल नाप लेना सहज हो जाता।

उस घर के आँगन में लगे फूल पराई वस्तु की परिभाषा में आ सकते हैं, यह निश्चित कर लेने के उपरान्त हम लोग एक

दोपहर को, केवल रामा को खिझाने के लिए, उस आकाश मार्ग से फूल चुराने चले। किसीका भी पैर फिसल जाता तो कथा और ही होती, पर भाग्य से हम दूसरी छत तक सकुशल पहुँच गए। नीचे के जीने की अन्तिम सीढी पर एक कुतिया नन्हे-नन्हे बच्चे लिये बैठी थी, जिन्हें देखते ही हमें वस्तु के सम्बन्ध में अपना निश्चय बदलना पड़ा, पर ज्योंही हमने एक पिल्ला उठाया त्योंही वह निरीह-सी माता अपने इच्छा भरे अधिकार की घोषणा से धरती आकाश एक करने लगी। बैठक से जब कुछ अस्त-व्यस्त भाव वाले गृह-स्वामी निकल आए और शयनागार से जब आलस्य-भरी गृह स्वामिनी दौड पड़ीं तब हम बड़े असमञ्जस में पड़ गए। ऐसी स्थिति मे क्या किया जाता है, यह तो रामा के व्याख्यान मे था ही नहीं, अत हमने अपनी बुद्धि का सहारा लेकर सारा मन्तव्य प्रकट कर दिया। कहा, "हम छत की राह से फूल चुराने आये हैं।" गृह स्वामी हँस पड़े। पूछा, "लेते क्यों नहीं?" उत्तर और भी गम्भीर मिला, "अब कुतिया का पिल्ला चुराएँगे।" पिल्ले को दबाये हुए जब तक हम उचित मार्ग से लौटें तब तक रामा ने हमारी डकैती का पता लगा लिया था। अपने उपदेश रूपी अमृत वृक्ष मे यह विष फल लगते देख वह एकदम अस्थिर हो उठा होगा, क्योंकि उसने आकाशी डाकुओं के सरदार को दोनों कानों से पकडकर अधर म उठाते हुए पूछा, "कहो जू, कहो जू, कितै गए रहे?" पिन पिन करके रोना मुझे बहुत अपमानजनक लगता था, इसीसे दाँतों से होठ दबाकर मैंने यह अभूतपूर्व दण्ड सहा और फिर बहुत संयत क्रोध के साथ माँ से कहा, "रामा ने मेरे कान खींचकर टेढे कर दिए हैं, और बडे भी। अब डॉक्टर को बुलाकर इन्हें ठीक करवा दो और रामा को अँधेरी कोठरी मे बन्द कर दो।" वे तो हमारे अपराध से अपरिचित थीं और रामा प्राण रहते बता नहीं

सकता था, इसलिए उसे बच्चों से दुर्व्यवहार न करने के सम्बन्ध में एक मनोवैज्ञानिक उपदेश सुनना पड़ा। वह अपने व्यवहार के लिए सचमुच बहुत लज्जित था, पर जितना ही वह मनाने का प्रयत्न करता था, उतना ही उसके राजा-भैया को कान का दर्द याद आता था। फिर भी सन्ध्या-समय रामा को खिन्न मुद्रा से बाहर बैठा देखकर मैंने 'गीत सुनाओ' कहकर सन्धि का प्रस्ताव कर ही दिया। रामा को एक भजन भर आता था—"ऐसो सिय रघुबीर भरोसो" और उसे वह जिस प्रकार गाता था, उससे पेड़ पर के चिड़िया-कौए तक उड़ सकते थे; परन्तु हम लोग उस अपूर्व गायक के अद्‌भुत श्रोता थे—रामा केवल हमारे लिए गाता और हम केवल उसके लिए सुनते थे।

मेरा बचपन समताकालीन बालिकाओं से कुछ भिन्न रहा, इससे रामा का उसमें विशेष महत्त्व है।

उस समय परिवार में कन्याओं की अभ्यर्थना नहीं होती थी। आँगन में गाने वालियाँ, द्वार पर नौबत वाले और परिवार के बूढ़े से लेकर बालक तक सब पुत्र की प्रतीक्षा में बैठे रहते थे। जैसे ही दबे स्वर से लक्ष्मी के आगमन का समाचार दिया गया वैसे ही घर के एक कोने से दूसरे तक एक दरिद्र निराशा व्याप्त हो गई। बड़ी-बूढ़ियाँ संकेत से मूक गाने वालियों को जाने के लिए कह देतीं और बड़े बूढ़े इशारे से नीरव बाजे वालों को विदा देते—यदि ऐसे अतिथि का भार उठाना परिवार की शक्ति से बाहर होता तो उसे बैरंग लौटा देने के उपाय भी सहज थे।

हमारे कुल में कब ऐसा हुआ, यह तो पता नहीं, पर जब दीर्घकाल तक कोई देवी नहीं पधारीं तब चिन्ता होने लगी, क्योंकि जैसे अश्व के बिना अश्वमेध नहीं हो सकता, वैसे ही बिना कन्या के कन्यादान का महायज्ञ सम्भव नहीं।

बहुत प्रतीक्षा के उपरान्त जब मेरा जन्म हुआ तब बाबा ने

इसे अपनी कुलदेवी दुर्गा का विशेष अनुग्रह समझा और आदर प्रदर्शित करने के लिए अपना फारसी ज्ञान भूलकर एक ऐसा पौराणिक नाम ढूँढ लाए, जिसकी विशालता के सामने कोई मुझे छोटा-मोटा घर का नाम देने का भी साहस न कर सका। कहना व्यर्थ है कि नाम के उपयुक्त बनाने के लिए सब बचपन से ही मेरे मस्तिष्क मे इतनी विद्या बुद्धि भरने लगे कि मेरा अबोध मन विद्रोही हो उठा। निरक्षर रामा की स्नेह छाया के बिना मैं जीवन की सरलता से परिचित हो सकती थी या नहीं, इसमे सन्देह है। मेरी पट्टी पुज चुकी थी और मैं 'आ' पर उँगली रखकर आदमी के स्थान मे आम, आलमारी, आज आदि द्वारा मन की बात कह लेती थी। ऐसी दशा में मैं अपने भाई-बहनों के निकट शुक्राचार्य से कम महत्त्व नहीं रखती थी। मुझे उनके सभी कार्यों का समर्थन या विरोध पुस्तक मे ढूँढ लेने की क्षमता प्राप्त थी और मेरी इस क्षमता के कारण उन्हें निरन्तर सतर्क रहना पडता था। नन्हे बाबू उछला नहीं कि मैंने किताब खोलकर पढा "बन्दर नाच दिखाने आया।" मुन्नी रूठी नहीं कि मैंने सुनाया, "रूठी लडकी कौन मनावे, गरज पडे तो भागी आवे।" वे बेचारे मेरे शास्त्र ज्ञान से बहुत चिन्तित रहते थे, क्योंकि मेरे किसी कार्य के लिए दृष्टान्त ढूँढ लेने का साधन उनके पास नहीं था, पर अक्षर-ज्ञानी शुक्राचार्य निरक्षर रामा से पराजित हो जाते थे। उसके पास कथा कहानी, कहावत आदि का जैसा वृहद् कोष था, वैसा सौ पुस्तकों मे भी न समाता। इसी से जब मेरा शास्त्र ज्ञान महाभारत का कारण बनता तब वह न्यायाधीश होकर और अपना ज्ञान सबके कान मे सुनाकर तुरन्त सन्धि कर देता।

मेरे पण्डितजी से रामा का कोई विरोध न था, पर जब ... के बीच ही मे मौलवी साहब, संगीत शिक्षक और

ड्राइङ्ग-मास्टर का आविर्भाव हुआ तब रामा का हृदय क्षोभ से भर गया। कदाचित् वह जानता था कि इतनी योग्यता का भार मुझसे न सँभल सकेगा।

मौलवी साहब से तो मैं इतना डरने लगी थी कि एक दिन पढ़ने से बचने के लिए बड़े-से झाबे मे छिपकर बैठना पड़ा। अभाग्य से झाबा वही था जिसमें बाबा के भेजे आमों में से दो-चार शेष भी थे। उन्हें निकालकर कुछ और भरने के लिए रामा जब पूरे झाबे को, उसके भारीपन पर विस्मित होता हुआ माँ के सामने उठा लाया तब समस्या बहुत जटिल हो गई। जैसे ही उसने ढक्कन हटाया कि मुझे पलायमान होने के अतिरिक्त कुछ न सूझा। अन्त मे रामा और माँ के प्रयत्न ने मुझे उर्दू पढ़ने से छुट्टी दिला दी।

ड्राइङ्ग-मास्टर से मुझे कोई शिकायत नहीं रही, क्योंकि वे खेलने से रोकते ही नहीं थे। सब कागजों पर दो लकीरें सीधी खड़ी करके और उन पर एक गोला रखकर मैं रामा का चित्र बना देती थी। जब किसी और का बनाना होता तब इसी ढाँचे मे कुछ पच्चीकारी कर दी जाती थी।

नारायण महाराज से न मैं प्रसन्न रहती थी, न रामा। जब उन्होंने पहले दिन सगीत सीखने के सम्बन्ध मे मुझसे प्रश्न किया, तब मैंने बहुत विश्वास के साथ बता दिया कि मैं रामा से सीखती हूँ। जब उन्होंने सुनाने का अनुरोध किया तब मैंने रामा का वही भजन ऐसी विचित्र भावभंगी से सुना दिया कि वे अवाक् हो रहे। उस पर भी जब उन्होंने मेरे सेवक गुरु रामा को अपने से बडा और योग्य गायक नहीं माना तब मेरा अप्रसन्न हो जाना अस्वाभाविक था।

रामा के बिना भी ससार का काम चल सकता है, यह हम नहीं मान सकते थे। माँ जब दस पन्द्रह दिन के लिए नानी को

देखने जातीं तब रामा को घर और बाबूजी की देखभाल के लिए रहना पड़ता था। बिना रामा के हम जाने के लिए किसी प्रकार भी प्रस्तुत न होते, अतः वे हमें भी छोड़ जातीं।

बीमारी के सम्बन्ध में रामा से अधिक सेवा-परायण और सावधान व्यक्ति मिलना कठिन था। एक बार जब छोटे भाई के चेचक निकली तब वह मेरे को लेकर ऊपर के खण्ड में इस तरह रहा कि हमें भाई का स्मरण ही नहीं आया। रामा की सावधानी के कारण ही मुझे कभी चेचक नहीं निकली।

एक बार उसीके कारण मैं एक भयानक रोग से बच सकी हूँ। इन्दौर में प्लेग फैला हुआ था और हम शहर से बाहर रहते थे। माँ और कुछ महीनों की अवस्था वाला छोटा भाई इतना बीमार था कि बाबूजी हम तीनों की खोज-खबर लेने का अवकाश कम पाते थे। ऐसे अवसरों पर रामा अपने स्नेह से हमें इस प्रकार घेर लेता था कि और किसी अभाव की अनुभूति ही असम्भव हो जाती थी।

जब हम सघन आम की डाल में पड़े भूले पर बैठकर रामा की विचित्र कथाओं को बड़ी तन्मयता से सुनते थे तभी एक दिन हल्के-से ज्वर के साथ मेरे कान के पास गिल्टी निकल आई। रामा ने एक बुढ़िया की कहानी सुनाई थी जिसके फूले पैर में से भगवान् ने एक वीर मेंढक उत्पन्न कर दिया था। मैंने रामा को यह समाचार देते हुए कहा, "मालूम होता है कि मेरे कान से कहानी वाला मेंढक निकलेगा।" वह बेचारा तो सुन्न हो गया। फिर ईंट के गरम टुकड़े को गीले कपड़े में लपेटकर उसने उसे कितना सेंका, यह बताना कठिन है। सेंकते सेंकते वह न जाने क्या बड़बड़ाता रहता था, जिसमें कभी देवी, कभी हनुमान और कभी भगवान का नाम सुनाई दे जाता था। दो दिन और दो रात वह मेरे बिछौने के पास से हटा ही नहीं।

तीसरे दिन मेरी गिल्टी बैठ गई, पर रामा को तेज बुखार चढ़ आया। उसके गिल्टी निकली, चीरी गई और वह बहुत बीमार रहा; पर उसे सन्तोष था कि मैं सब यत्नों से बच गई। जब दुर्बल रामा के बिछौने के पास माँ हमें ले जा सकीं तब हमें देखकर उसके सूखे होठ मानो हँसी से भर आए, धँसी आँखें उत्साह में तैरने लगीं और शिथिल शरीर में एक स्फूर्ति तरंगित हो उठी। माँ ने कहा, "तुमने इसे बचा लिया था रामा! जो हम तुम्हें न बचा पाते तो जीवन-भर पछतावा रह जाता।"

उत्तर में रामा बढ़े हुए नाखून वाले हाथ से माँ के पैर छूकर अपनी आँखें पोंछने लगा। रामा जब अच्छा हो गया तब माँ प्रायः कहने लगीं, "रामा, अब तुम घर बसा लो जिससे अपने बाल बच्चों का सुख देख सको।"

"बाई की बातें! मोय नासमिटे अपनन खों का करने हैं, मोरे राजा हरे बने रहें—जेई अपने रामा की नैया पार लगा देहें!" यही रामा का उत्तर रहता था। वह अपने भावी बच्चों को लक्ष्य करके इतनी बातें सुनाता था कि हम उसके बच्चों की हवाई स्थिति से ही परिचित नहीं हो गए थे, उन्हें अपने प्रतिद्वन्द्वी के रूप में भी पहचान गए थे। हमें विश्वास था कि यदि उसके बच्चे हमारे जैसे होते तो वह उन्हें कभी 'नासमिटा', 'मुँहझौंसा' आदि कहकर स्मरण न करता।

फिर एक दिन जब अपनी कोठरी से लाठी-जूता आदि निकालकर और गुलाबी साफ़ा बाँधकर रामा आँगन में आ खड़ा हुआ तब हम सब बहुत सभीत हो गए; क्योंकि ऐसी सज-धज में तो हमने उसे कभी देखा ही नहीं था। लाठी पर सन्देह भरी दृष्टि डालकर मैंने पूछ ही तो लिया, "क्या तुम उन बाल-बच्चों को पीटने जा रहे हो रामा?" रामा ने लाठी घुमाकर हँसते-हँसते उत्तर दिया, "हाँ राजा भइया, ऐसी देहों नासमिटन के।"

पर रामा चला गया और न जाने कितने दिनों तक हमे कल्लू की माँ के कठोर हाथों से बचने के लिए नित्य नवीन उपाय सोचने पड़े।

हमारे लिए अनन्त और दूसरों के लिए कुछ समय के उपरान्त एक दिन सवेरे ही केसरिया साफा और गुलाबी धोती मे सजा हुआ रामा दरवाजे पर आ खडा हुआ और 'राजा भइया, राजा भइया' पुकारने लगा। हम सब गिरते-पड़ते दौड़ पड़े, बरामदे ही में सहमकर अटक रहे। रामा अकेला नहीं था। उसके पीछे एक लाल धोती का कछोटा लगाये और हाथ मे चूड़े और पाँव मे पैंजना पहने जो घूँघट वाली स्त्री खडी थी उसने हमें एक साथ ही उत्सुक और सशकित कर दिया।

मुन्नी जब रामा के कुरते को पकडकर झूलने लगी तब नाक की नोक को छू लेने वाले घूँघट मे से दो तीक्ष्ण आँखें उसके कार्य का मूक विरोध करने लगीं। नन्हे जब रामा के कन्धे पर आसीन होने के लिए जिद करने लगा तब घूँघट में छिपे सिर मे एक निषेध-सूचक कम्पन जान पडा और जब मैंने झुककर उस नवीन मुख को देखना चाहा तब वह मूर्ति घूमकर खडी हो गई। भला ऐसे आगुन्तक से हम कैसे प्रसन्न हो सकते थे? जैसे-जैसे समय बीतता गया वैसे वैसे रामा की अँधेरी कोठरी मे महाभारत के अकुर जमते गए और हमारे खेल के ससार मे सूखा पडने की सम्भावना बढती गई। हमारे खिलौनों के नगर बसाने के लिए रामा विश्वकर्मा भी था और मयदानव भी, पर अब वह अपने गुरु कर्तव्य के लिए अवकाश ही नहीं पाता था। वह आया नहीं कि घूँघट वाली मूर्ति पीछे-पीछे आ पहुँची और उसके मूक असहयोग से हमारा और रामा का ही नहीं गुड्डे-गुड़ियों का भी दम घुटने लगता था। इसीसे एक दिन हमारी युद्ध-समिति बैठी। राजा को ऊँचे स्थान मे बैठना चाहिए, अत मैं मेज पर चढकर

धरती तक न पहुँचने वाले पैर हिलाती हुई विराजी। मन्त्री महोदय कुरसी पर आसीन हुए और सेनापतिजी स्टूल पर जमे। तब राजा ने चिन्ता की मुद्रा मे कहा, "रामा इसे क्यों लाया है ?" मन्त्रीजी ने गम्भीर भाव से सिर हिलाते हुए दोहराया, "रामा इसे क्यों लाया है ?" और सेनापति 'र' न कह सकने की असमर्थता छिपाने के लिए आँखें तरेरते हुए बोले, "ह्‌च है, इछे का लाया है ?"

फिर उस विचित्र समिति मे सर्वमत से निश्चित हुआ कि जो जीव हमारे एकच्छत्र अधिकार की अवज्ञा करने आया है, उसे न्याय की मर्यादा के हेतु दण्ड मिलना ही चाहिए। यह कार्य नियमानुसार सेनापतिजी को सौंपा गया।

रामा की बहू जब रोटी बनाती तब नन्हे बाबू चुपके-से उसके चौके के भीतर बिस्कुट रख आता, जब वह नहाती तब लकड़ी से उसकी सूखी धोती नीचे गिरा देता। न जाने कितने दण्ड उसे मिलने लगे, पर उसकी ओर से न क्षमा-याचना हुई और न सन्धि का प्रस्ताव आया। केवल वह अपने विरोध मे और अधिक दृढ हो गई और हमारे अपकारों का प्रतिशोध बेचारे रामा से लेने लगी। उसके साँवले मुँह पर कठोरता का अभेद्य अवगुण्ठन पड़ा ही रहता था और उसकी काली पुतलियों पर क्रोध की छाया उतरती ही न थी, इसीसे हमारे ही समान अबोध रामा पहले हतबुद्धि हो गया, फिर खिन्न रहने लगा और अन्त मे विद्रोह कर उठा। कदाचित् उसकी समझ मे ही नहीं आता था कि वह अपना सारा समय और स्नेह उस स्त्री के चरणों पर कैसे रख दे, और रख दे तो स्वयं जिये कैसे। फिर एक दिन रामा की बहू रूठकर मायके चल दी।

रामा ने तो मानो किसी अप्रिय बन्धन से मुक्ति पाई, क्योंकि वह हमारी अद्भुत सृष्टि का फिर वही चिर-प्रसन्न विधाता

बनकर बहू को ऐसे भूल गया जैसे वह पानी की लकीर थी।

पर माँ को अन्याय का कोई भी रूप असह्य था। रामा पत्नी को हमारे पुराने खिलौनों के समान फेंक दे, यह उन्हें बहुत अनुचित जान पड़ा: इसलिए रामा को कर्तव्य-ज्ञान-सम्बन्धी विशद और जटिल उपदेश मिलने लगे। इस बार रामा के जाने में वही करुण विवशता जान पड़ती थी, जो उस विद्यार्थी में मिलती है जिसे पिता के स्नेह के कारण मास्टर से पिटने जाना पड़ता है।

उस बार जाकर फिर लौटना सम्भव न हो सका। बहुत दिनों के बाद पता चला कि वह अपने घर बीमार पड़ा है। माँ ने रुपये भेजे, आने के लिए पत्र लिखा; पर उसे जीवन-पथ पर हमारे साथ इतनी ही दूर आना था।

हम सब खिलौने रखकर शून्य दृष्टि से बाहर देखते रह जाते थे। नन्हे बाबू सात समुद्र पार पहुँचना चाहता था, पर उड़ने वाला घोड़ा न मिलने से यात्रा स्थगित हो जाती थी। मुन्नी अपनी रेल पर संसार-भ्रमण करने को विकल थी, पर हरी-लाल झंडी दिखाने वाले के बिना उसका चलना-ठहरना सम्भव नहीं हो सकता था। मुझे गुड़िया का विवाह करना था, पर पुरोहित और प्रबन्धक के बिना शुभ लग्न टलती चली जाती थी।

हमारी संख्या चार तक पहुँचाने वाला 'छोटे भइया' ढाई वर्ष का हो चुका था और वह हमारे निर्माण को ध्वंस करने के अभ्यास में दिनों-दिन तत्पर होता जा रहा था। उसे खिलौनों के बीच में प्रतिष्ठित करके हम सब बारी-बारी से रामा की कथा सुनने के उपरान्त कह देते थे कि रामा जब गुलाबी साफा बाँधकर लाठी लिये हुए लौटेगा तब तुम गड़बड़ न कर सकोगे। पर हमारी कहानी के उपसंहार के लिए भी रामा कभी न लौटा!

आज मै इतनी बड़ी हो गई हूँ कि 'राजा भइया' कहलाने का हठ स्वप्न सा लगता है, बचपन की कथा-कहानियाँ कल्पना जैसी जान पडती है और खिलौनों के संसार-सा सौन्दर्य भ्रान्ति हो गया है, पर रामा आज भी सत्य है, सुन्दर है और स्मरणीय है। मेरे अतीत मे खड़े रामा की विशाल छाया वर्तमान के साथ बढ़ती ही जाती है—निर्वाक्, पर स्नेह-तरल।

राष्ट्र का स्वरूप

भूमि, भूमि पर बसने वाला जन और जन की संस्कृति, इन तीनों के सम्मिलन से राष्ट्र का स्वरूप बनता है।

भूमि का निर्माण देवों ने किया है, वह अनन्तकाल से है। उसके भौतिक रूप, सौन्दर्य और समृद्धि के प्रति सचेत होना हमारा आवश्यक कर्तव्य है। भूमि के पार्थिव स्वरूप के प्रति हम जितने अधिक जाग्रत होंगे उतनी ही हमारी राष्ट्रीयता बलवती हो सकेगी। यह पृथ्वी सच्चे अर्थों में समस्त राष्ट्रीय विचार-धाराओं की जननी है। जो राष्ट्रीयता पृथ्वी के साथ नहीं जुड़ी वह निर्मूल होती है। राष्ट्रीयता की जड़ें पृथ्वी में जितनी गहरी होंगी उतना ही राष्ट्रीय भावों का अंकुर पल्लवित होगा। इसलिए पृथ्वी के भौतिक स्वरूप की आद्योपान्त जानकारी प्राप्त करना, उसकी सुन्दरता, उपयोगिता और महिमा को पहचानना आवश्यक धर्म है।

इस कर्तव्य की पूर्ति सैकड़ों-हजारों प्रकार से होनी चाहिए। पृथ्वी से जिस वस्तु का सम्बन्ध है, चाहे वह छोटी हो या बड़ी, उसके कुशल-प्रश्न पूछने के लिए हमें कमर कसनी चाहिए। पृथ्वी का सांगोपांग अध्ययन जागरणशील राष्ट्र के लिए बहुत ही आनन्दप्रद कर्तव्य माना जाता है। गाँवों और नगरों में

सैकड़ों केन्द्रों से इस प्रकार के अध्ययन का सूत्रपात होना आवश्यक है।

उदाहरण के लिए, पृथ्वी की उपजाऊ शक्ति को बढ़ाने वाले मेघ, जो प्रति वर्ष समय पर आकर अपने अमृत-जल से इसे सींचते हैं, हमारे अध्ययन की परिधि के अन्तर्गत आने चाहिएँ। उन मेघ-जलों से परिवर्द्धित प्रत्येक तृण-लता और वनस्पति का सूक्ष्म परिचय प्राप्त करना भी हमारा कर्त्तव्य है।

इस प्रकार जब चारों ओर से हमारे ज्ञान के कपाट खुलेंगे, तब सैकड़ों वर्ष से शून्य और अन्धकार से भरे हुए जीवन के ~~त्रों में नया उजाला दिखाई देगा।

धरती माता की कोख में जो अमूल्य निधियाँ भरी हैं, उनके कारण वह वसुन्धरा कहलाती है, उससे कौन परिचित न होना चाहेगा? लाखों-करोड़ों वर्ष से अनेक प्रकार की धातुओं को पृथ्वी के गर्भ में पोषण मिला है। दिन-रात बहने वाली नदियों ने पहाड़ों को पीस-पीसकर अगणित प्रकार की मिट्टियों से पृथ्वी की देह को सजाया है। हमारे भावी आर्थिक अभ्युदय के लिए इन सबकी जाँच-पड़ताल अत्यन्त आवश्यक है। पृथ्वी की गोद में जन्म लेने वाले खड्ड-पत्थर कुशल शिल्पियों से सँवारे जाने पर अत्यन्त सौन्दर्य का प्रतीक बन जाते हैं। नाना भाँति के अनगढ़ नग विंध्य की नदियों के प्रवाह में सूर्य की धूप से चिलकते रहते हैं, उन चीलवटों को जब चतुर कारीगर पहलदार कटाव पर लाते हैं, तब उनके प्रत्येक घाट से नई शोभा और सुन्दरता फूट पड़ती है; वे अनमोल हो जाते हैं। देश के नर-नारियों के रूप-मण्डन और सौन्दर्य-प्रसाधन में इन छोटे पत्थरों का भी सदा से कितना भाग रहा है, अतएव हमें उनका ज्ञान होना भी आवश्यक है।

पृथ्वी और आकाश के अन्तराल में जो-कुछ सामग्री भरी

है, पृथ्वी के चारों ओर फैले हुए गम्भीर सागर में जो जलचर एवं रत्नों की राशियाँ हैं, उन सबके प्रति चेतना और स्वागत के नये भाव राष्ट्र में फैलने चाहिएँ। राष्ट्र के नवयुवकों के हृदय में उन सबके प्रति जिज्ञासा की नई किरणें जब तक नहीं फूटतीं तब तक हम सोये हुए के समान हैं।

विज्ञान और उद्यम दोनों को मिलाकर राष्ट्र के भौतिक स्वरूप का एक नया ठाठ खड़ा करना है। यह कार्य प्रसन्नता, उत्साह और अथक परिश्रम द्वारा नित्य आगे बढ़ाना चाहिए। हमारा यह ध्येय हो कि राष्ट्र में जितने हाथ हैं उनमें से कोई भी इस कार्य में भाग लिये बिना रीता न रहे। तभी मातृभूमि की पुष्कल समृद्धि और समग्र रूप-मण्डल प्राप्त किया जा सकता है।

मातृभूमि पर निवास करने वाले मनुष्य राष्ट्र का दूसरा अङ्ग हैं। पृथ्वी हो और मनुष्य न हों, तो राष्ट्र की कल्पना असम्भव है। पृथ्वी और जन दोनों के सम्मिलन से ही राष्ट्र का स्वरूप सम्पादित होता है। जन के कारण ही पृथ्वी मातृ-भूमि की संज्ञा प्राप्त करती है। पृथ्वी माता है और जन सच्चे अर्थों में पृथ्वी का पुत्र है—

माता भूमिः पुत्रोऽहं पृथिव्याः।
भूमि माता है, मैं उसका पुत्र हूँ।

जन के हृदय में इस सूत्र का अनुभव ही राष्ट्रीयता की कुञ्जी है। इसी भावना से राष्ट्र-निर्माण के अंकुर उत्पन्न होते हैं।

यह भाव जब सशक्त रूप में जागता है तब राष्ट्र निर्माण के स्वर वायु मण्डल में भरने लगते हैं। इस भाव द्वारा ही मनुष्य पृथ्वी के साथ अपने सच्चे सम्बन्ध प्राप्त करते हैं। जहाँ यह भाव नहीं है वहाँ जन और भूमि का सम्बन्ध अचेतन

और जड़ बना रहता है। जिस समय भी जन का हृदय भूमि के साथ माता और पुत्र के सम्बन्ध को पहचानता है, उसी क्षण आनन्द और श्रद्धा से भरा हुआ उसका प्रणाम-भाव मातृ-भूमि के लिए इस प्रकार प्रकट होता है—

नमो मात्रे पृथिव्यै। नमो मात्रे पृथिव्यै।
माता पृथ्वी को प्रणाम है। माता पृथ्वी को प्रणाम है।

यह प्रणाम-भाव ही भूमि और जन का दृढ़ बन्धन है। इसी दृढ़ भित्ति पर राष्ट्र का भवन तैयार किया जाता है। इसी दृढ़ चट्टान पर राष्ट्र का चिर-जीवन आश्रित रहता है। इसी मर्यादा को मानकर राष्ट्र के प्रति मनुष्यों के कर्तव्य और अधिकारों का उदय होता है। जो जन पृथ्वी के साथ माता और पुत्र के सम्बन्ध को स्वीकार करता है, उसे ही पृथ्वी के वरदानों में भाग पाने का अधिकार है। माता के प्रति अनुराग और सेवा-भाव पुत्र का स्वाभाविक कर्त्तव्य है। वह एक निष्कारण धर्म है। स्वार्थ के लिए पुत्र का माता के प्रति प्रेम पुत्र के अधःपतन को सूचित करता है। जो जन मातृ-भूमि के साथ अपना सम्बन्ध जोड़ना चाहता है उसे अपने कर्तव्यों के प्रति पहले ध्यान देना चाहिए।

माता अपने सब पुत्रों को समान भाव से चाहती है। इसी प्रकार पृथ्वी पर बसने वाले जन बराबर हैं। उनमें ऊँच और नीच का भाव नहीं है। जो मातृभूमि के हृदय के साथ जुड़ा हुआ है वह समान अधिकार का भागी है। पृथ्वी पर निवास करने वाले जनों का विस्तार अनन्त है—नगर और जनपद, पुर और गाँव, जंगल और पर्वत नाना प्रकार के जनों से भरे हुए हैं। ये जन अनेक प्रकार की भाषाएँ बोलने वाले और अनेक धर्मों के मानने वाले हैं, फिर भी वे मातृभूमि के पुत्र हैं और इस कारण

उनका सौहार्द्र-भाव अनवरत है। सभ्यता और रहन-सहन की दृष्टि से जन एक-दूसरे के आगे-पीछे हो सकते हैं, किन्तु इस कारण से मातृभूमि के साथ उनका जो सम्बन्ध है उसमें कोई भेद-भाव उत्पन्न नहीं हो सकता। पृथ्वी के विशाल प्रांगण में सब जातियों के लिए समान क्षेत्र है। समन्वय के मार्ग से भर-पूर प्रगति और उन्नति करने का सबको एक जैसा अधिकार है। किसी जन को पीछे छोड़कर राष्ट्र आगे नहीं बढ़ सकता। अत-एव राष्ट्र के प्रत्येक अंग की सुध हमें लेनी होगी। राष्ट्र के शरीर के एक भाग में यदि अन्धकार और निर्बलता का निवास है तो समग्र राष्ट्र का स्वास्थ्य उतने अंश में असमर्थ रहेगा। इस प्रकार समग्र राष्ट्र जागरण और प्रगति की एक जैसी उदार भावना से संचालित होना चाहिए।

जन का प्रवाह अनन्त होता है। सहस्रों वर्षों से भूमि के साथ राष्ट्रीय जन ने तादात्म्य प्राप्त किया है। जब तक सूर्य की रश्मियाँ नित्य प्रात.काल भुवन को अमृत से भर देती हैं तब तक राष्ट्रीय जन का जीवन भी अमर है। इतिहास के अनेक उतार-चढ़ाव पार करने के बाद भी राष्ट्र-निवासी जन नई उठती लहरों से आगे बढ़ने के लिए आज भी अजर-अमर है। जन का सन्तत-वाही जीवन नदी के प्रवाह की तरह है, जिसमें कर्म और श्रम द्वारा उत्थान के अनेक घाटों का निर्माण करना होता है।

राष्ट्र का तीसरा अंग जन की संस्कृति है। मनुष्यों ने युग-युगों में जिस सभ्यता का निर्माण किया है वही उसके जीवन की श्वास-प्रश्वास है। बिना संस्कृति के जन की कल्पना कबन्ध-मात्र है, संस्कृति ही जन का मस्तिष्क है। संस्कृति के विकास और अभ्युदय द्वारा ही राष्ट्र की वृद्धि सम्भव है। राष्ट्र के समग्र रूप में भूमि और जन के साथ-साथ जन की संस्कृति का महत्त्वपूर्ण स्थान है। यदि भूमि और जन अपनी संस्कृति से

विरहित कर दिए जायँ तो राष्ट्र का लोप समझना चाहिए। जीवन के विटप का पुष्प संस्कृति है। संस्कृति के सौन्दर्य और सौरभ में ही राष्ट्रीय जन के जीवन का सौन्दर्य और यश अन्तर्निहित है। ज्ञान और कर्म दोनों के पारस्परिक प्रकाश की संज्ञा संस्कृति है। भूमि पर बसने वाले जन ने ज्ञान के क्षेत्र में जो सोचा है और कर्म के क्षेत्र में जो रचा है, दोनों के रूप में हमें राष्ट्रीय संस्कृति के दर्शन मिलते हैं। जीवन के विकास की युक्ति ही संस्कृति के रूप में प्रकट होती है। प्रत्येक जाति अपनी-अपनी विशेषताओं के साथ इस युक्ति को निश्चित करती है और उससे प्रेरित संस्कृति का विकास करती है। इस दृष्टि से प्रत्येक जन की अपनी अपनी भावना के अनुसार पृथक्-पृथक् संस्कृतियाँ राष्ट्र में विकसित होती हैं, परन्तु उन सबका मूल आधार पारस्परिक सहिष्णुता और समन्वय पर निर्भर है।

जगत में जिस प्रकार अनेक लता, वृक्ष और वनस्पति अपने अदम्य भाव से उठते हुए पारस्परिक सम्मिलन से अविरोधी स्थिति प्राप्त करते हैं, उसी प्रकार राष्ट्रीय जन अपनी संस्कृतियों द्वारा एक-दूसरे के साथ मिलकर राष्ट्रों में रहते हैं। जिस प्रकार जलों के अनेक प्रवाह नदियों के रूप में मिलकर समुद्र में एकरूपता प्राप्त करते हैं, उसी प्रकार राष्ट्रीय जीवन की अनेक विधियाँ राष्ट्रीय संस्कृति में समन्वय प्राप्त करती हैं। समन्वय-युक्त जीवन ही राष्ट्र का सुखदायी रूप है।

साहित्य, कला, नृत्य, गीत, आमोद-प्रमोद—अनेक रूपों में राष्ट्रीय जन अपने-अपने मानसिक भावों को प्रकट करते हैं। आत्मा का जो विश्व-व्यापी आनन्द-भाव है वह इन विविध रूपों से साकार होता है। यद्यपि बाह्य रूप की दृष्टि से संस्कृति के ये बाहरी लक्षण अनेक दिखाई पड़ते हैं, किन्तु आन्तरिक आनन्द की दृष्टि से उनमें एकसूत्रता है। जो व्यक्ति सहृदय है, वह प्रत्येक

संस्कृति के आनन्द-पक्ष को स्वीकार करता है और उस आनन्दित होता है। इस प्रकार की उदार भावना ही विवि जनों से बने हुए राष्ट्र के लिए स्वास्थ्यकर है।

गाँवों और जंगलों मे, स्वच्छन्द जन्म लेने वाले लोक-गीत मे, तारों के नीचे विकसित लोक-कथाओं मे संस्कृति का अमि भण्डार भरा हुआ है, जहाँ से आनन्द की भरपूर मात्रा प्राप्त हो सकती है। राष्ट्रीय संस्कृति के परिचय-काल मे उन सबका स्वागत करने की आवश्यकता है।

पूर्वजों ने चरित्र और धर्म विज्ञान, साहित्य-कला और संस्कृति के क्षेत्र मे जो कुछ भी पराक्रम किया है, उस सारे विस्तार को हम गौरव के साथ धारण करते हैं और उसके तेज को अपने भावी जीवन मे साक्षात् देखना चाहते हैं। यही राष्ट्र-सवर्द्धन का स्वाभाविक प्रकार है, जहाँ अतीत वर्तमान के लिए भार रूप नहीं है, जहाँ भूत वर्तमान को जकड रखना नहीं चाहता वरन् अपने वरदान से पुष्ट करके उसे आगे बढाना चाहता है, उस राष्ट्र का हम स्वागत करते हैं।

१६ · · श्री शान्तिप्रिय द्विवेदी

साहित्य के विभिन्न युग

१

हमारे वर्तमान साहित्य के दो युग निश्चित हो चुके हैं-(१) भारतेन्दु-युग, (२) द्विवेदी-युग। ये दो युग व्यक्ति-विशेष की प्रमुखता के कारण निश्चित हुए हैं, साहित्य की उस धारा-विशेष के कारण नहीं जिसके द्वारा हम मध्ययुग के साहित्य का वर्गीकरण करते आए हैं। हम मध्ययुग के साहित्य को व्यक्ति-विशेष के नाम से अभिहित नहीं कर सके। इसका कारण यह है कि उस काल की प्रवृत्तियाँ किसी विशेष व्यक्ति में ही निहित नहीं थीं, वे हमारे समग्र जीवन में ओत-प्रोत थीं। एक शब्द में उसकी रचनाएँ संस्कृतिमूलक थीं, व्यक्ति उसकी अभिव्यक्ति-मात्र थे। संस्कृति के संचालन में बड़े-बड़े आचार्यों का हाथ होने पर भी संस्कृति ने उनके नाम से नहीं बल्कि सिद्धान्तों के स्वरूप के अनुसार युग-संज्ञा प्राप्त की। राम-काव्य और कृष्ण-काव्य में भी तुलसी और सूर नहीं बल्कि उनकी संस्कृति के आराध्य देवता हैं—व्यक्तियों के बजाय भगवन्नाम की ही प्रमुखता है। किन्तु आप्त पुरुषों ने इससे भी ऊपर उठकर नाम के सार रूप, सृष्टि के सारांश रूप को ही युग संज्ञा दी थी—सतयुग, त्रेता, द्वापर, कलियुग। इस एक-एक युग में न जाने कितने युग-पुरुष हुए,

किन्तु कभी उन्होंने युग को अपने नाम का सिक्का नहीं दिया। यह व्यक्ति का आध्यात्मिक आत्म-विसर्जन है जिसके द्वारा उसने अपने को अनन्त अदृश्य में खो दिया।

किन्तु जब इस भू-खण्ड में अन्य जातियों का प्रवेश हुआ, तब विभिन्न मनोवृत्तियों (या मतों) का संघर्ष प्रारम्भ हो गया। इसे ही हम इतिहास काल कहेंगे। यह इतिहास-काल ही कलियुग है, जिसमें पिछले तीन युगों की परम्परा और अपने समय की प्रधानता है। पिछले युग यदि आध्यात्मिक समष्टिवादी थे तो यह युग पार्थिव व्यक्तिवादी है। पिछले युगों के समष्टिवाद के प्रतीक-स्वरूप इस युग में भी धर्मशालाएँ हैं, पाठशालाएँ हैं, देवालय हैं, किन्तु उनके निर्माण में व्यक्ति-विशेष का नाम आगे है। यह युग सार को नहीं, संसार को लेकर चला है। इस युग में आत्म-मोह इतना अधिक है कि पार्थिव व्यक्तिवाद की प्रतिक्रियाओं से ऊपर उठ कर अब एक पार्थिव समष्टिवाद का भी जन्म हो रहा है या संसार का नवीन संस्कार होने जा रहा है। यही ऐतिहासिक प्रगतिशीलता है। यह पार्थिव समष्टिवाद ही कलि-युग का अतिक्रमण करके आध्यात्मिक समष्टिवाद में आ मिलेगा, इतिहास अपनी चरम सीमा पर पुराण में परिणत हो जायगा, पूर्व से चला हुआ सूर्य फिर पूर्व में ही उदित होगा।

तो यह ऐतिहासिक युग है। [illegible]-काल से लेकर आधुनिक काल के प्रारम्भ तक जीवन का एक ही व्यक्तिवादी प्रवाह चलता जाता है। यह प्रवाह प्राचीन समष्टिवादी संस्कृति को अपने [illegible] में बहा ले गया, काल के आवर्त में डूबते व [illegible] [illegible] की [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] हैं राम और कृष्ण काव्य। इस प्रकार साहित्य में तो हम [illegible] [illegible] [illegible] का अनुभव करते हैं और इतिहास में [illegible] [illegible] [illegible] जिस प्रकार इतिहास ने संस्कृति के [illegible]

गति धारण की, उसी प्रकार आज इस विकृति के प्रतिकूल प्रगति आ रही है (पार्थिव समष्टिवाद के रूप में)। किन्तु अभी तक वही मध्यकालीन विकृति अपने अन्तिम संघर्ष में लगी हुई है।

आधुनिक काल के प्रारम्भ तक इस विकृति की गति निर्द्वन्द्व हो गई थी। तब तक साहित्य दिवंगत आत्मा की स्मृति की भाँति संस्कृति को सँजोये हुए चल रहा था और इतिहास अपनी सामयिक हलचलों को पिरोये हुए। इतिहास प्रबल होकर भी साहित्य के आदर्शों को विचलित नहीं कर सका, साहित्य कृष्णार्पण ही बना रहा। अतएव, प्रभु की चीज में किसी भक्त का नाम नहीं लग सका। किन्तु उन्नीसवीं शताब्दी (आधुनिक काल का प्रारम्भ) के उत्तरार्द्ध से इतिहास ने साहित्य पर भी प्रभाव छोड़ना आरम्भ किया। कारण, हमने निश्चित रूप से ऐतिहासिक जीवन की विजय स्वीकार कर ली, मानो शुक्ल पक्ष की प्रभुता मान ली। निदान अतीत ब्राह्मण की तरह विदा हो गया, मध्यकाल क्षत्रिय की तरह वीर गति पा गया और आधुनिक काल मुस्लिम शक्ति का अंग्रेजी रूपान्तर होकर शासक बन गया।

२

आधुनिक काल के प्रारम्भ में एक नये शासन का आरम्भ हुआ। मध्य-काल के संघर्ष समाप्त हो गए थे, आधुनिक काल गत संघर्षों के भस्म स्तूप पर सिंहासनासीन हुआ। यह श्मशान-शान्ति का काल है। इस समय हमें अपने विगत जीवन का सिंहावलोकन, करने का अवसर मिला—एक तुलनात्मक सिंहावलोकन, जिसमें तब और अब का नीर-क्षीर-निरीक्षण था। भारतेन्दु ने कहा :

> *"अंगरेज राज सुख-साज सजे सब भारी।*
> *पै धन विदेस चलि जात यहै अति ख्वारी॥"*

साथ ही साहित्य में संस्कृति के जो अक्षर चले आ रहे थे उन्हें भी श्रद्धा का अक्षत दिया गया। इस प्रकार नवीन राष्ट्रीय विवेक और पुरातन सांस्कृतिक चेतना लेकर भारतेन्दु-युग प्रकाशमान हुआ। एक में जीवन का सामयिक यथार्थ था, दूसरे में जीवन का चिरकालिक आदर्श। राष्ट्रीय विवेक ने हमें जो यथार्थ दिया उससे हमें अपने सामाजिक यथार्थ को भी देखने का दृष्टिकोण मिला। सामाजिक यथार्थ ने हमें अपनी रूढ़ियों की दुर्बलता का परिचय दिया। हमारा चिरकालिक आदर्श इन रूढ़ियों के भग्न-स्तूप पर उसी प्रकार विराजमान था जिस प्रकार मध्य-युग के भग्न-स्तूप पर आधुनिक काल। चिरकालिक आदर्श को संस्कृति का सुदृढ़ सात्विक आधार देने के लिए विकृत रूढ़ियों का विरोध आवश्यक हुआ। रूढ़ियों का मुक्त विरोध, संस्कृति का गान-ध्यान और दबे हुए कण्ठ से यत्किञ्चित् राष्ट्रीय असन्तोष, यही भारतेन्दु-युग की प्रवृत्तियाँ हैं। यही प्रवृत्तियाँ द्विवेदी-युग तक चली आईं। हाँ, भारतेन्दु-युग ने सामाजिक रूढ़ियों का तो विरोध किया, किन्तु मध्य-काल की (रीतिकाल की) साहित्यिक रूढ़ियों को रसिकतापूर्वक अपनाया। इतने अंश में वह दुर्बल था और इतने ही अंश में द्विवेदी-युग, भारतेन्दु-युग से नवीन। द्विवेदी युग, भारतेन्दु-युग का ही पूरक है। भारतेन्दु-युग की यत्किञ्चित् अपूर्णता को उसने पूर्णता दी।

३

युग-निश्चय के आधार ये हैं—(१) प्रवृत्ति (जीवन को देखने का दृष्टिकोण), (२) प्रगति (सामाजिक और राजनीतिक इतिहास), (३) अभिव्यक्ति या कला (भाषा, शैली और सुरुचि)। संक्षेप में जीवन, इतिहास और कला, ये ही युग के परिचायक हैं—किसी व्यक्ति के आचार-विचार, गति-मति और वेष-भूषा की भाँति।

इस भाँति हम देखें—

भारतेन्दु-युग में देश के शासक बदल गए थे, किन्तु जीवन और इतिहास मध्य-युग का ही था। कला भी पुरानी ही थी, ब्रजभाषा और संस्कृत के सम्पर्क में। एक प्रकार से भारतेन्दु-युग पिछले ससार का ही हिन्दी-रूपान्तर था। आधुनिक काल तो तब नवजात शिशु-मात्र था। इस शिशु का ज्यों-ज्यों आत्म-विस्तार होता गया, त्यों-त्यों साहित्य का उससे भी परिचय होता गया, उसके मंगल अमंगल का बोध होता गया। आधुनिक काल के प्रथम बोध में साहित्य में जितनी नवीनता सम्भव थी, भारतेन्दु-युग ने अपनी प्राचीन परिधि में उसे भी ग्रहण किया। यों कहें, भारतेन्दु-युग एक आधुनिक क्लासिकल युग था।

मध्य-युग में काव्य ही साहित्य था; भावात्मक आइडियलिज्म के कारण जीवन के अभावात्मक रियलिज्म में तब का साहित्य नहीं बना। आधुनिक काल की खासियत यह है कि उसने जीवन में आइडियलिज्म को अपेक्षाकृत कम कर दिया। एक नये शिशु के जन्म के साथ जिस प्रकार किसी गृहस्थ के हृदय में एक अभावात्मक (चिन्ताजनक) रियलिज्म का उदय होता है, उसी प्रकार साहित्य के हृदय में भी आधुनिक काल की यथार्थता की चिन्ता जगी। भावात्मक आइडियलिज्म ने काव्य का प्रादुर्भाव किया था तो अभावात्मक रियलिज्म ने गद्य की उद्भावना कर दी। इस प्रकार व्यावहारिक जीवन का माध्यम (गद्य) साहित्य में भी आ गया। यों कहें, साहित्य निद्रित स्वप्नों से जीवन की सजग स्थिति में भी आया। इसीके अनुरूप भारतेन्दु-युग का साहित्य आधुनिक काल की प्रथम जागृति और मध्य-काल की अन्तिम स्वप्नदर्शिता का संयोजन है। वह साहित्य का उप-काल है।

साहित्य के इस उपकाल में भारतेन्दु-युग ने उस नवजात

आधुनिकता के विविध अङ्ग गद्य में संगठित किये। गद्य में केवल धार्मिक कथाएँ थीं; भारतेन्दु ने नाटक, चम्पू, कहानी और प्रहसन से उसका विस्तार किया। हिन्दी का यह भारतेन्दु-युग अपनी सीमा में बंगाल का बंकिम-युग है। हाँ, हमारे साहित्य में उपन्यास तब तक नहीं बन सका था, किन्तु इसकी प्रेरणा भी भारतेन्दु के साहित्यिक प्रयत्नों में थी, जिसे उसी युग के स्वर्गीय किशोरीलाल गोस्वामी और देवकीनन्दन खत्री ने प्रत्यक्ष किया।

इस प्रकार भारतेन्दु-युग वर्तमान साहित्य के गद्यारम्भ का युग है। ज्यों-ज्यों साहित्य में आधुनिकता वयस्क होती गई, त्यों-त्यों उसके गद्याङ्गों का विकास होता गया। जिस प्रकार एक ही आतप और प्रकाश देश-काल के अनुसार अपना भिन्न प्रभाव रखता है, उसी प्रकार आधुनिकता ने अंग्रेजी और हिन्दी-साहित्य में विभिन्न गति से विभिन्न विकास पाया।

४

भारतेन्दु युग वर्तमान साहित्य का प्रसव-काल है। स्वभावतः उसमें उत्ताप अधिक है। उसमें एक अवरुद्ध उद्‌बुद्धता और उद्‌बोधन है। द्विवेदी-युग इस प्रसव-काल के बाद का साहित्य है, अतएव वह स्वभावत कुछ प्रकृतिस्थ है। भारतेन्दु-युग ने जो आधुनिक साहित्य दिया, उसीका पालन-पोषण द्विवेदी-युग ने किया, जैसे राजनीति में तिलक की उत्पन्न की हुई जागृति का गांधी ने। अतएव द्विवेदी-युग ने भारतेन्दु-युग की अपेक्षा कोई नई सामूहिक चेतना नहीं दी, भारतेन्दु-युग की चेतना को ही उसने नई भाषा (खड़ी बोली) दे दी। द्विवेदी-युग ने भारतेन्दु-युग के साहित्य का कण्ठ-परिष्कार किया, यही उसकी खास विशेषता है।

कहा जा चुका है कि हिन्दी का यह भारतेन्दु युग बङ्गाल का

वंकिम-युग है। यही युग द्विवेदी-युग तक चला आया है। तब तक मध्य-काल के जीवन में कोई विशेष परिवर्तन नहीं हुआ था, केवल उसकी अभिव्यक्ति आधुनिक होती गई। यों कहें कि जीवन क्लासिकल रहा, कला रोमाण्टिक होती गई। द्विवेदी-युग के बाद साहित्य में जो छायावाद आया उसमें यही रोमाण्टिक अभिव्यक्ति है। बङ्किम-युग के बाद रवीन्द्र युग इस रोमाण्टिक कला का कलाकार है।

हमारे साहित्य में द्विवेदी युग सन् १६१६ में पूर्ण हो जाता है, जबकि द्विवेदीजी 'सरस्वती' से अवकाश लेकर एकान्तवास करते हैं। इसके बाद ही हमारे साहित्य में छायावाद और फिर गांधीवाद का प्राधान्य होता है। रवीन्द्र और गांधी के व्यक्तित्वों में जितना अन्तर है, उतना ही दोनों 'वेदों' की अभिव्यक्तियों में भी। रवीन्द्र की अभिव्यक्ति जबकि रोमाण्टिक है, गांधी की अभिव्यक्ति क्लासिकल (यथा चरखा, करघा इत्यादि)। किन्तु जीवन के दृष्टि विन्दु में दोनों ही क्लासिकल हैं। दोनों मध्य-युग के भक्ति-साहित्य के पुनरुत्थान हैं। रवीन्द्र कृत छायावाद सगुण काव्य की भाँति प्रवृत्ति मूलक है, गांधीवाद (रहस्यवाद) निर्गुण काव्य की भाँति निवृत्ति मूलक। रवीन्द्र निर्गुण की उपासना में सगुण का लक्ष्य रखते हैं, गांधी सगुण की उपासना में निर्गुण का लक्ष्य।

हमारे साहित्य में सन् १६२० के बाद की रचनाएँ इन्हीं महारथियों के अनुरूप कला-व्यक्तित्व लेकर आईं। यों कहें कि इनके द्वारा कला में एक आधुनिक रोमाण्टिसिज्म और एक आधुनिक क्लासिज्म का जन्म हुआ। एक में लाक्षणिकता है, दूसरे में प्रासादिकता। पहले के 'अन्तर्गत' युगान्त के पूर्व पन्त, प्रसाद, महादेवी और निराला हैं, दूसरे के अन्तर्गत द्विवेदी-युग के वे है ... और कवि जिन्होंने गांधीवाद का प्रभाव अधिक

ग्रहण किया, यथा गुप्तजी और प्रेमचन्दजी। आवश्यकतानुसार दोनों वर्गों के साहित्यिकों ने एक-दूसरे के कला विन्यास को अपनाया भी है, यथा गुप्तजी ने छायावाद की लाक्षणिक कला और पन्त ने इधर की रचनाओं में द्विवेदी-युग की-सी गद्य-कला ली है। गुप्तजी ने अपना काव्योत्कर्ष वस्तु जगत् से छायावाद के भाव-जगत् में किया, पन्त ने छायावाद से द्विवेदी-युग के बाद वस्तु-जगत् में।

सन् १९१३ में नोबल पुरस्कार पाने के बाद से ही साहित्य पर रवीन्द्रनाथ का प्रभाव पड़ने लगा था। सन् १९२० के पूर्व, द्विवेदी-युग में भी हमारे साहित्य पर यह प्रभाव कुछ कुछ दीख पड़ता है। सन् १९२० के बाद हिन्दी में जिस छायावाद ने प्राधान्य ग्रहण किया, उसका बीजांकुर द्विवेदी युग में भी था (गुप्तजी की 'झंकार' और प्रसादजी की 'झरना' इसी काल की रचनाएँ हैं)। सन् १९२० के बाद का साहित्य द्विवेदी-युग में उसी प्रकार प्रच्छन्न है, जिस प्रकार भारतेन्दु युग में द्विवेदी-युग। इन विविध युगों में मूलतः कोई अन्तर न होने के कारण इनमें परस्पर अविच्छिन्नता बनी हुई है, इन सबके भीतर मध्यकाल का ही माध्यम है।

यह एक प्रश्न है कि सन् १९२० के बाद के साहित्यिक युग को हम किस नाम से अभिहित करें। द्विवेदी-युग तक हमारा साहित्य अपनी ही भाषा के साहित्यिकों की प्रेरणा से चला था, इसलिए मुख्य प्रेरकों के नाम पर हमने पिछले दो युगों को भारतेन्दु-युग और द्विवेदी-युग की संज्ञा दे दी। किन्तु इसके बाद का हमारा साहित्य हिन्दी के बाहर के प्रभावों को लेकर प्राणान्वित हुआ। इस परवर्ती साहित्यिक युग को हम हिन्दी के किसी रचनाकार की सीनियरिटी के कारण ही उसका नाम नहीं दे सकते, जब तक कि उसके प्रभाव और प्रेरणा के कारण ही वर्तमान साहित्य न बना

हो, जैसे भारतेन्दु और द्विवेदी-युग में। सच तो यह है कि इसे हिन्दी के संकुचित दायरे में न रखकर हमें हिन्द महासागर की विस्तीर्णता में देखना होगा, ताकि आने वाली पीढ़ी इस युग के जीवन और इतिहास को अधिक स्पष्टता एवं सुबोधता से हृदयङ्गम कर सके। इस युग को हम क्यों न 'गांधी-रवीन्द्र-युग' कहें। इस नामकरण द्वारा हमारे अब तक के जीवन और साहित्य तथा विश्व-मानव और विश्व-साहित्य के साथ उसके सम्पर्क की सचेष्टता का स्पष्टीकरण हो जाता है। युग का यह नामकरण न केवल हिन्दी के लिए बल्कि इससे प्रभावित सम्पूर्ण अन्तःप्रांतीय साहित्यों के लिए भी सार्थक हो सकता है, एक शब्द में इसके द्वारा सम्पूर्ण भारतीय राष्ट्र की आत्मा और अभिव्यक्ति प्रकट हो सकती है।

५

भारतेन्दु ने कहा था :

> *"अंगरेज राज सुख साज सजे सब भारी।*
> *पै धन विदेस चलि जात यहै अति ख्वारी॥"*

सन् १६१४ के महायुद्ध तक हमारी राष्ट्रीय भावना यहीं तक सीमित रही; किन्तु सन् १६१६ के पंजाब-हत्याकाण्ड ने ब्रिटिश शासन पर अविश्वास उत्पन्न कर दिया, जिससे हममें स्वराज्य के लिए सत्याग्रह जगा। स्वतन्त्रता का मन्त्र तिलक दे गए थे, उसका साधन गांधीजी ने बताया। इस तरह हमारी राष्ट्रीयता स्वाधीनता की ओर उन्मुख हुई। हमने अपने देश के लिए स्वाधीनता में ही उस अर्थ-शोषण का अन्त पाया जिसके लिए भारतेन्दु का कहना था :

> *"पै धन बिदेस चलि जात यहै अति ख्वारी।"*

इस प्रकार क्लासिकल जीवन ने परिवर्तन का एक द्वार

खोला। मध्य-युग के संसार में बीसवीं शताब्दी के लिए भी एक वातायन खुला। गांधीवाद का विशद प्रसार हुआ। रवीन्द्र-युग (छायावाद) से चलकर साहित्य यहाँ (गांधी-युग) तक पहुँचा। 'गांधी-रवीन्द्र युग' द्वारा हमारे साहित्य ने द्विवेदी युग के बाद की पूर्णता प्राप्त की।

इसके आगे नवीन प्रयत्न नये युवकों का था। जो अर्थ-शोषण हमारे पराधीन देश में जारी है, वही स्वतन्त्र देशों में भी तो है। नये युवकों की दृष्टि इस अर्थ शोषण के मूल कारण की ओर गई। इस अर्थ-शोषण के मूल में उन्होंने देखा, मध्य-कालीन पूँजीवादी राजनीतिक व्यवस्था को, आइडियलिज्म को दूर हटाकर उन्होंने पूर्णतः रियलिज्म को देखा। फलतः आज साहित्य और राष्ट्र में समाजवाद सजग है। इसे हम रोमाण्टिक रियलिज्म कह सकते हैं। जीवन की विकृतियों में सामाजिक रियलिज्म को पहले भी देखा गया था, किन्तु उसी पुराने भवन (मध्य-काल) के जीर्णोद्धार के लिए। उस रियलिज्म में सुधार-वादी दृष्टिकोण है, किन्तु यह रोमाण्टिक रियलिज्म आमूल क्रान्तिकारी है।

समाजवाद को यह सोचना है कि जैसे किसी देश को स्वाधीनता मिल जाने से ही अर्थ-शोषण का अन्त नहीं हो जाता, वैसे ही अर्थ सुखी हो जाने पर ही मानव के मनोरथ शान्ति लाभ नहीं करते। अतएव, मध्य युग के जीवन में (पुराकाल का) जो आध्यात्मिक आइडियलिज्म है, वह व्यर्थ नहीं है, वही हमें आन्तरिक शान्ति देगा। मध्य-युग में यह औपचारिक मात्र था, आन्तरिक नहीं, इसीलिए रूढ़ि-निर्वाह में हम उसकी कदर्थना देखते आए हैं। रोमाण्टिक रियलिज्म की सार्थकता यह है कि मध्य-युग के आध्यात्मिक आइडियलिज्म को (जिसका वर्तमान नामकरण 'गांधीवाद' है) वह नवीन पार्थिव आधार दे जिससे

द्विवेदी-काल से पत्र-कला का विकास

पण्डित महावीरप्रसाद द्विवेदी ने सन् १६०३ में 'सरस्वती' का सम्पादन करना शुरू किया। उस वक्त भी हिन्दी में पत्र-पत्रिकाओं की काफी तादाद थी और उनसे भी कहीं ज्यादा पत्रकारों की। लेकिन पत्र-कला नाम की कोई चीज न थी।

पत्र-पत्रिकाओं में 'हिन्दी-प्रदीप', 'आनन्द-कादम्बिनी', 'भारत-जीवन', 'भारत-मित्र', 'उचित-वक्ता', 'सार-सुधानिधि', 'हिन्दी-बंगवासी', 'आर्यमित्र', 'हिन्दुस्तान', 'हितवार्ता' और 'नागरी-प्रचारिणी-पत्रिका' खास थीं। ज्यादातर पत्र कलकत्ता से निकलते थे और हिन्दी-पाठकों पर उन्हीं का सबसे ज्यादा असर था।

इन पत्र-पत्रिकाओं के सम्पादक हिन्दी के प्रसिद्ध लेखक होते थे। ये बड़े-बड़े लेखक, जो अक्सर संस्कृत-फारसी के भी पण्डित थे, उस वक्त हिन्दी के गद्य का स्वरूप बनाने और हिन्दी का प्रचार करने में लगे हुए थे। इनमें बाबू बालमुकुन्द गुप्त, पण्डित बद्रीनारायण चौधरी, पं० बालकृष्ण भट्ट, पं० गोविन्द नारायण मिश्र, पं० माधवप्रसाद मिश्र, पं० चन्द्रधर शर्मा गुलेरी, पं० पद्मसिंह शर्मा, पं० दुर्गाप्रसाद मिश्र, पं० महानन्द मिश्र, पं० रामचन्द्र शुक्ल, बाबू श्यामसुन्दरदास, लाला भगवानदीन और बाबू गुलाबराय जैसे ऊँची चोटी के लेखक थे।

ये पत्र दो किस्म के थे—एक साप्ताहिक, दूसरे मासिक-त्रैमासिक। साप्ताहिक पत्रों में सम्पादकीय टिप्पणी, देश-विदेश की खबरें, बाजार के भाव और कभी-कभी एक-दो छोटे-छोटे लेख रहते थे। ये पत्र दो या ज्यादा-से-ज्यादा चार सफे के और कोई-कोई तो एक ऑफिस टेबल के साइज के इसलिए होते थे कि छोटे साइज के पत्रों को देखकर पाठक कहता—"यह कैसा पतला-पतला-सा अखबार है!" इन समाचार-पत्रों का सम्पादन ठीक से न होता था। अंग्रेजी के अखबारों से अनुवाद करके खबरें दी जाती थीं। तार, संवाददाता, सहकारी सम्पादक, बाकायदा दफ्तर, प्रूफरीडर वगैरह की जरूरत न पड़ती थी। खबरों की भाषा वही चटकती-मटकती और लच्छेदार होती थी, जिसकी नाजो-अदा से खबर का तो कचूमर निकल जाता था। महत्त्व के अनुसार मोटी-पतली हेड लाइनें देकर खबर छापने का उन दिनों चलन न था। खबरों का चुनाव, उनका डिस्प्ले, और उनकी भाषा आज की पत्र-कला से बहुत पीछे थी; आर्यसमाज, सनातन धर्म के झगड़े और बाल-विवाह, विधवा-विवाह के सवालों को लेकर देश में चले समाज-सुधार-आन्दोलन की चर्चा तो उनमें खूब रहती थी, लेकिन राजनीतिक विषयों की चर्चा या सरकार के कार्यों की नुक्ताचीनी बहुत कम होती थी।

इसके अलावा जो मासिक-त्रैमासिक पत्र थे उनमें सम्पादन-कला की कमी खटकती थी। उन पत्रों का रूप-रंग तो मामूली दरजे का होता ही था, लेखों का चुनाव, उनमें तरमीम, उनका सम्पादन आदि भी न होता था; विषय भी इने-गिने होते थे।

इस तरह सम्पादन-कला और पत्र-कला उस समय या तो थी नहीं या अपने प्रारम्भ काल में थी। इसके दो कारण थे। पहला तो यह कि पाठक बहुत कम थे और ग्राहक बढ़ाने का मामला हमेशा सामने पेश रहता था। अक्सर पत्रों के सौ-दो सौ

से ज्यादा ग्राहक न होते थे। फिर पत्र-कला पर ध्यान देने या उसका विकास करने के साधन जुटाने का मौका कहाँ था? इसलिए ज्यादातर पत्र लीथो पर छपते थे।

दूसरा सवाल था भाषा का। उस वक्त तक हिन्दी के गद्य की कोई साफ-सुथरी शक्ल न बन पाई थी। प्रान्तीय प्रयोगों, व्याकरण की गलतियों और अलंकारों की भरमार से भाषा चुलबुली और व्यंग्यपूर्ण होते हुए भी बेढंगी थी, यहाँ तक कि लिखावट का भी कोई स्टैंडर्ड रूप न था।

आचार्य द्विवेदी ने सबसे पहले लेखों का सम्पादन-संशोधन करना शुरू किया, बाकायदा विषयों का चुनाव करके 'सरस्वती' को सजधज के साथ निकाला और जिस एक कारण से हिन्दी पत्र-कला ही नहीं बल्कि समूचे गद्य-साहित्य का विकास रुका हुआ था उसे उन्होंने मिटा दिया, यानी हिन्दी के गद्य की भाषा का स्वरूप निश्चित कर दिया।

व्याकरण की गलतियाँ दूर करने के लिए उन्होंने 'सरस्वती' में एक लेख 'भाषा की अनस्थिरता' नाम से लिखा। कुछ दिनों के लिए हिन्दी-पत्र-कला में बड़ी सरगर्मी रही और इस मसले पर लोगों ने विद्वत्तापूर्ण विचार प्रकट किए। बाबू बालमुकुन्द गुप्त ने जब आत्माराम के नाम से 'भारत-मित्र' में द्विवेदीजी के खिलाफ लिखा तो पंडित गोविन्दनारायण झा ने 'आत्माराम की टें-टें' नाम के लेख में उनको जोरदार जवाब दिया। इन्हीं दिनों पंडित सखाराम देउस्कर ने विभक्तियों का सवाल उठाया। पं० गोविन्दनारायण मिश्र ने कलकत्ता की 'हितवार्ता' में एक पांडित्यपूर्ण लेखमाला निकाली, जिसमें उन्होंने कहा कि विभक्तियों को शब्दों के साथ मिलाकर लिखना चाहिए। लाला भगवान-दीन और आचार्य द्विवेदी ने इसका विरोध किया। इससे लेखक दो दलों में बँट गए। इस बहस और चर्चा से यह

लाभ हुआ कि अब लेखक अपनी भाषा के बारे में सतर्क रहने लगे और हिन्दी-गद्य का स्वरूप स्थिर हो चला।

आचार्य द्विवेदी ने हिन्दी-गद्य की साहित्यिक भाषा बनाई और उनके समय के दूसरे लेखकों ने हिन्दी के समाचार-पत्रों की। इससे नये-नये विषय सामने आये और उनकी अपनी-अपनी शैलियाँ और शब्द-योजनाएँ बन चलीं। इन लेखकों और पत्रकारों की कोशिश से हिन्दी के गद्य-साहित्य और पत्र-कला के विकास के लिए अनुकूल जमीन तैयार हो गई।

'सरस्वती' की देखा-देखी 'इन्दु', 'लक्ष्मी', 'प्रभा', 'प्रतिभा', 'शारदा', 'मनोरमा', 'मर्यादा' आदि बहुत-सी पत्रिकाएँ निकलने लगीं। खास-खास विषयों को लेकर भी पत्रिकाएँ निकलीं।

हम पहले कह चुके हैं कि क्यों द्विवेदीजी के जमाने में राजनीतिक विषयों को लेकर बहुत कम चर्चाएँ रहती थीं; लेकिन समाचार-पत्रों और पत्र-कला का किसी देश के राजनीतिक जीवन से गहरा सम्बन्ध रहता है। इसलिए जैसे ही भाषा का मसला हल हुआ और दूसरी ओर बंग-भंग-आन्दोलन से देश में राजनीतिक चेतना की लहर फैली, हिन्दी-पत्र-कला की यह कमी भी दूर हो चली। बाबू बालमुकुन्द गुप्त ने लॉर्ड कर्जन के खिलाफ अपना 'शिवशम्भू का चिट्ठा' लिखा, जो कलकत्ता के 'भारत-मित्र' में धारावाहिक रूप से छपा। श्री बाबूराम विष्णु पराड़कर, पंडित दुर्गाप्रसाद मिश्र और पंडित अम्बिकाप्रसाद वाजपेयी ने गम्भीर राजनीतिक लेख लिखने शुरू किये। 'हितवार्ता', 'भारत-मित्र' और 'हिन्दुस्तान' में राजनीतिक चर्चाएँ होने लगीं। इसी बीच पंडित सुन्दरलाल का 'कर्मवीर', 'प्रताप' और 'अभ्युदय' निकले। इन पत्रों ने हिन्दी-भाषी जनता की राजनीतिक चेतना पर गहरा असर डाला। ये पत्र राष्ट्रीय थे और इनकी पूरी सहानुभूति राष्ट्रीय आन्दोलन के साथ रही। 'अभ्युदय' को पंडित मदनमोहन

मालवीय और पंडित कृष्णानन्द मालवीय का सहयोग प्राप्त था। पिछला महायुद्ध जब छिड़ा तो हिन्दी-पत्र-कला का विकास रुक-सा गया, क्योंकि लड़ाई के ज़माने में उन पर और भी पाबन्दियाँ लग गईं। सन १९२० तक यही हाल कायम रहा।

युद्ध के बाद देश की राजनीतिक क्रिया बदल गई। राजनीतिक बेचैनी बढ़ी और असहयोग और खिलाफत आन्दोलन का ज़माना आया। इस हलचल के युग ने श्री बाबूराव विष्णु पराड़कर और श्री गणेश शङ्कर विद्यार्थी जैसे दो ज़बरदस्त पत्रकार व्यक्तित्व पैदा किये। सन १९२० में बनारस से दैनिक 'आज' निकला। पराड़करजी उसके सम्पादक हुए। उन्हीं दिनों कानपुर का साप्ताहिक 'प्रताप' दैनिक बना और स्वर्गीय श्री गणेश शङ्कर विद्यार्थी ने उसका सम्पादन-कार्य सँभाला। अंग्रेज़ी पत्र-कला का गहरा अध्ययन होने के कारण ये दोनों व्यक्ति सही अर्थों में पत्रकार थे। इन्होंने हिन्दी की पत्र-कला की काया-पलट कर दी। आजकल की पत्र-कला के अन्दर महत्व की खबरें पाने और उन्हें आकर्षक ढंग से प्रकाशित करने के अतिरिक्त उन खबरों के अच्छे-बुरे असर के बारे में जन-हित की दृष्टि से सम्मति प्रकट करना एक बहुत ज़रूरी कर्तव्य होता है और देशों में समाचार पत्रों की ताकत सभी स्वीकार करते हैं,

पत्र हिन्दी-भाषी प्रान्तों में धाक खो बैठे।

अब हिन्दी-पत्र भी तार से खबरें मँगाने लगे। संवाददाता तैनात किये गए। खबरों का बाकायदा सम्पादन करके उचित हेड-लाइनें देने लगे और अँग्रेजी अखबारों की तरह उनमें भी ताज़ी खबरें रहने लगीं। सन् १६२० के बाद हिन्दी में जितने भी दैनिक पत्र निकले हैं वे न सम्पादन या पत्र कला की दृष्टि से और न जनता पर असर डालने की नज़र से ही 'आज' और 'प्रताप' से आगे बढ़ पाए हैं। सन् १६३० और १६२० के बीच कई दैनिक निकले, जिनमें 'अर्जुन', 'विश्वमित्र', 'लोकमत', 'वर्तमान', 'हिन्दी मिलाप' और 'लोकमान्य' मुख्य थे।

इस बीच अनेक साप्ताहिक और मासिक पत्र-पत्रिकाएँ भी निकलीं, जिन्होंने साहित्य की प्रशंसनीय सेवा की। साप्ताहिकों में 'सैनिक','मतवाला','भविष्य','विश्वमित्र','जागरण','स्वदेश'और 'पाटलिपुत्र' आदि अपने-अपने विषय के प्रसिद्ध पत्र थे। मासिक पत्रों में 'माधुरी','सुधा','विशाल भारत','विश्वमित्र', 'चाँद, आदि प्रसिद्ध पत्रिकाएँ निकलीं, जिन्होंने महायुद्ध के बाद की सभी साहित्यिक धाराओं को ग्रहण किया और हिन्दी के कहानी, उपन्यास, कविता, आलोचना साहित्य का विकास करने में सराहनीय कार्य किया।

सन् १६३० से अब तक हिन्दी के दैनिक समाचार पत्रों में पत्र-कला की दृष्टि से कोई महत्त्व का विकास नहीं हुआ, सिवा इसके कि इस जमाने में दर्जनों नये दैनिक प्रकाशित हुए और जनता पर सिर्फ उन्हीं पत्रों का प्रभाव बढ़ा जिनकी नीति राष्ट्रीय और कांग्रेस के पक्ष में थी। लेकिन साप्ताहिक और मासिक पत्रों ने जरूर नये कदम उठाए। इस जमाने में देश की राजनीतिक चेतना उग्र हो गई और उसके साथ-साथ किसान-मजदूरों का समाजवाद के सिद्धान्तों के अनुसार सङ्गठन होने लगा, जिससे

एक नये किस्म के राजनीतिक साप्ताहिक का जन्म हुआ। वर्ग-संघर्ष की बुनियाद पर जनता और समाजवादी दलों का सगठन इन पत्रों ने किया। इनका काम सिर्फ रायजनी करना ही नहीं बल्कि रोजमर्रा की तहरीक में जनता की रहनुमाई करना भी था। 'जनता', 'संघर्ष' और 'नया हिन्दुस्तान' ऐसे पत्रों में मुख्य थे। व्यवसाय की दुनिया से पत्र कला को अलग करके और एक नये ढाँचे में ढालकर उन्होंने यह साबित कर दिया कि समाचार पत्र उथल पुथल के जमाने में एक नेता का भी काम कर सकते हैं, जिनके प्रति पाठकों का वही प्रेम, वही वफादारी और इशारे पर कुरबान होने की वही मुस्तैदी हो सकती है जो एक नेता के प्रति कार्यकर्ता की होती है।

मासिक पत्रों में भी इस जमाने में काफी चहल पहल रही। देश के विद्वानों के सामने राष्ट्रभाषा का सवाल उठा। राष्ट्रभाषा हिन्दी हो, उर्दू हो, या दोनों के मेल से हिन्दुस्तानी हो, इस पर मासिक पत्रों में जोरदार बहसें होती रहीं। स्वर्गीय प्रेमचन्दजी, जो सन १९३० से ही 'हंस' निकाल रहे थे, हिन्दुस्तानी के हामी थे। सन् १९३५ के आखिर में गांधीजी की सलाह से उन्होंने और श्री कन्हैयालाल मुन्शी ने देवनागरी लिपि में लिखी हिन्दुस्तानी का अन्य भाषी प्रान्तों में प्रचार करने के लिए और हिन्दुस्तान की सभी बड़ी बड़ी भाषाओं को नजदीक लाने के लिए हिन्दी, उर्दू और दूसरी भाषाओं के प्रतिनिधियों के सहयोग से 'भारतीय साहित्य परिषद्' की नींव डाली और 'हंस' उसका मुख पत्र हुआ। प्रेमचन्दजी की मृत्यु के समय तक 'हंस' इसी रूप में निकला। उसमें देश की खास-खास भाषाओं के लेखकों की चीजें देवनागरी लिपि में हिन्दुस्तानी अनुवाद के साथ छपती रहीं। भारतीय भाषाओं की एकता साबित करने और उन्हें एक-दूसरे के नजदीक लाने की यह अनूठी कोशिश थी और

उसने हिन्दी-पत्र-कला के सामने नये उद्देश्य और कर्तव्य रख दिए। हिन्दी के मासिक पत्र-जगत् में प्रेमचन्द एक बहुत बड़ी हस्ती थे।

उस जमाने में मासिक पत्रों में कई बड़ी महत्त्वपूर्ण बहसें चलीं। पश्चिमी साहित्य की जानकारी रखने वाले लेखक अपने साथ नये विचार लाते थे। इसलिए अब की बहसों में साहित्य के उद्देश्य, उसकी शैली और जीवन के प्रति दृष्टिकोण पर विचार-विनिमय हुआ, जिससे हिन्दी-लेखकों को नई प्रेरणाएँ मिलीं। पण्डित बनारसीदास चतुर्वेदी के सम्पादन-काल में 'विशाल भारत', श्री सुमित्रानन्दन पन्त के 'रूपाभ' और मेरे सम्पादन-काल में 'हंस' ने ये बहसें छेड़ीं। जमाने की रफ्तार के साथ प्रगति बनाए रखने में सन् '४० के आसपास इन पत्रों ने प्रशंसनीय कार्य किया। मासिक पत्रों की पत्र कला की उन्नति की एक यह भी कसौटी होती है। इसके बाद 'विशाल भारत' साहित्यिक चर्चाएँ करना छोड़कर 'गाय-बैलों' की चर्चा करने में मग्न हो गया, 'रूपाभ' का ऊँचा साहित्यिक स्तर हमारे पाठकों की चेतना पर भारी पड़ा और वह बन्द हो गया। उस समय केवल 'हंस' ही ऐसा पत्र रह गया था, जो नये उत्साह से साहित्य की सबसे नई धारा 'प्रगतिवाद' की रूपरेखा गढ़ने में लगा रहा। 'साहित्य-सन्देश', 'माधुरी', 'सरस्वती', 'वीणा', 'विश्ववाणी' आदि दूसरी पत्रिकाएँ भी उपयोगी काम करती रहीं। लेकिन उनमें से कुछ तो सन् १६१४ और १६३० के बीच की विचारधारा में ही बहती रहीं और कुछ नई प्रगतियों के साथ चलने की ओर प्रयत्नशील रहीं।

सन '४६ के लगभग पत्र-कला में कुछ नये प्रयोग भी किये गए। 'नया साहित्य' और 'प्रतीक' ये दो उच्चकोटि के द्वैमासिक पत्र क्रमशः बम्बई और इलाहाबाद से प्रकाशित हुए। इन दोनों

पत्रों की विशेषता यह थी कि उनमें दो मास के अपेक्षया स्थायी मूल्य के साहित्य को संकलित करने की चेष्टा होती थी। नया साहित्य मुख्यतः प्रगतिवादी साहित्य का प्रतिनिधित्व करता था और 'प्रतीक' के सम्पादक स० ही० वात्स्यायन का उद्देश्य हिन्दी में एक प्रतीकवादी और प्रयोगवादी साहित्य की धारा को प्रोत्साहन देना था, यद्यपि उसमें अनेक प्रगतिवादी लेखक भी अपने दृष्टिकोण से लिखते रहे। दुर्भाग्य से संकीर्ण मतवाद से आक्रान्त हो जाने के कारण 'नया साहित्य' का स्तर गिरता गया और प्रयोग के लिये प्रयोग के प्रति अत्यधिक आग्रह होने के कारण 'प्रतीक' में प्रकाशित साहित्य की सजीवता धीरे-धीरे नष्ट होती गई। इसी बीच पटना से 'हिमालय' नामक पत्र भी प्रकाशित हुआ, जिससे यह आशा बँधी थी कि कम-से-कम बिहार राज्य के प्रबुद्ध लेखकों को अपने इर्द-गिर्द जमा करने में वह सफल होगा, लेकिन सम्भवतः आर्थिक कारणों से उसे भी बन्द होना पड़ा। इसके बाद और भी अनेक नई पत्र-पत्रिकाएँ प्रकाशित हुईं, जिनमें 'जनवाणी', 'नया समाज', 'युगारम्भ', 'लहरी', 'नई धारा', 'राष्ट्र भारती' और त्रैमासिक पत्रिका 'नई चेतना' उल्लेखनीय हैं। लेकिन हिन्दी के साहित्यिक पत्र जगत में इधर जो सबसे उल्लेखनीय महत्त्व की घटना हुई है, वह है त्रैमासिक 'आलोचना' का प्रकाशन, जोकि हिन्दी-साहित्य की समस्त प्रबुद्ध साहित्यिक चेतना को एक केन्द्र पर जमाकर रचनात्मक और समीक्षात्मक साहित्य को नई प्रेरणा, स्फूर्ति तथा नया विस्तार एवं गाम्भीर्य प्रदान करने की ओर प्रयत्नशील है।

दैनिक-साप्ताहिक पत्र-जगत् में भी इस बीच अनेक नई कोपलें और शाखाएँ फूटी हैं। यह तो नहीं कहा जा सकता कि हिन्दी-पत्रकारिता का स्तर आज पहले से बहुत ऊँचा हो गया है और न यही कहा जा सकता है कि अंग्रेजी शासन-काल की

दम घोटने वाली पाबन्दियाँ एकदम घट गई हैं। इसके विपरीत अगर देखा जाय तो हिन्दी के पत्र-जगत् में भी चन्द पूँजी-पतियों की इजारेदारी स्थापित होती जा रही है, जिससे हमारे पत्रकारों की प्रतिभा पर नये-नये अंकुश लगते जाते हैं। इस बीच के उल्लेखनीय नये दैनिक और साप्ताहिक पत्रों में 'हिन्दुस्तान', 'नवभारत टाइम्स', 'नवजीवन', 'सैनिक', 'अमृत-पत्रिका', 'आर्यावर्त', 'संसार', 'आज', 'जयहिन्द', 'हुंकार', 'नवशक्ति संगम', 'धर्मयुग' आदि प्रमुख हैं। थोड़े में यह हिन्दी पत्र-कला के विकास का इतिहास है।

लेखक-परिचय

१ : : श्री बालकृष्ण भट्ट

श्री भट्टजी आधुनिक हिन्दी के प्रारम्भिक उन्नायकों में अपना प्रमुख स्थान रखते हैं। आपने अपने पत्र 'हिन्दी-प्रदीप' द्वारा हिन्दी-साहित्य में गद्य की उत्कृष्टतम शैली का सर्वप्रथम श्रीगणेश किया था। भट्टजी के निबन्धों में उनके व्यक्तित्व की छाप यत्र-तत्र देखने को मिलती है। शब्द-संगठन, वाक्य-विन्यास तथा भाषा-सौष्ठव आदि सभी दृष्टियों से उन्होंने गद्य द्वारा साधारण-से-साधारण विषय को भी अत्यन्त सजीव रूप में प्रस्तुत किया।

आपके निबन्धों की भाषा साधारण बोलचाल की भाषा है। उसमें उन्होंने उर्दू के तत्सम शब्दों का प्रयोग स्वच्छन्द रूप से किया है। लेकिन इसका यह तात्पर्य कदापि नहीं कि उनके निबन्धों की भाषा में हल्कापन था। वह विषय के अनुरूप भाषा का गठन करना जानते थे। यदि निष्पक्ष रूप से हम देखें तो हमें यही कहना होगा कि आपने सामाजिक, साहित्यिक और नैतिक प्रेरणा से परिपूर्ण जो भी निबन्ध लिखे वे आज के गद्य से पीछे नहीं हैं। यत्र-तत्र उन्होंने अपने विषय को रोचक और हृदयस्पर्शी बनाने के लिए दैनन्दिन जीवन में व्यवहृत होने वाले मामूली मुहावरों तक को अपनी भाषा के साँचे में ढालकर विषय को सजीव बना दिया है।

आपकी सबसे बड़ी विशेषता यह है कि नाक, कान, आँख आदि विषयों पर भी आपने सरसतम शैली में अत्यन्त सुन्दर निबन्ध लिखे हैं। आपके गद्य में काव्य जैसी भाव प्रवणता प्रचुर मात्रा में पाई जाती

है। भट्टजी अपने साहित्यिक जीवन में 'बेकन' से अत्यधिक प्रभावित थे, इसी कारण उनके निबन्धों में विषय का विवेचन अत्यन्त गम्भीर शैली में होता है।

'मन की दृढ़ता' शीर्षक उनका लेख उनकी गहन मननशीलता का द्योतक है। इसमें उन्होंने मन की विविध वृत्तियों का वर्णन जिस तन्मयता तथा सरलता के साथ किया है, वह पठनीय और मननीय है। भट्टजी की चिन्तन-शैली का पूर्ण प्रतिनिधित्व यह निबन्ध करता है। उनके लेखों में कहीं-कहीं तो गद्य-काव्य का-सा आनन्द आता है। इसका ज्वलन्त परिचय पाठकों को इस लेख में अवश्य मिलेगा।

२ . . पण्डित प्रतापनारायण मिश्र

श्री मिश्रजी और भट्टजी सम-सामयिक थे। यद्यपि वह भारतेन्दु हरिश्चन्द्र से अत्यन्त प्रभावित थे, तथापि उनके लेखों में उनकी छाप दृष्टिगोचर नहीं होती। वह विनोदशील प्रकृति के व्यक्ति थे। इसीका यह परिणाम हुआ कि उनके प्रायः सभी निबन्धों में विनोदप्रियता की सरस भावना पूर्णरूपेण प्रतिबिम्बित हुई है। हास्य, चुहल, चुटकी, व्यंग और आक्षेपों से आवृत होने पर भी आपके प्रायः सभी लेख गम्भीर ज्ञान और नीति के आगार हैं।

वह कोरे साहित्यिक ही नहीं, प्रत्युत् महान् सुधारक भी थे और उनकी यह सुधारवादी भावना भी उनके निबन्धों में प्रतिस्थापित हुए बिना नहीं रही। उनकी शैली की सबसे प्रमुख और महत्त्वपूर्ण विशेषता यह है कि उन्होंने शहर में रहते हुए भी ग्रामीण भाषा को अपनाया और फक्कड़पन की धुन में कहीं-कहीं अपने इलाके की बैसवाड़ी भाषा का प्रयोग करने से भी न हिचके।

क्योंकि मिश्रजी का अध्ययन अत्यन्त गम्भीर था, उन्होंने अनेक विषयों का चिन्तन और मनन भी पर्याप्त बारीकी से किया था, अतएव उनके प्रायः सभी निबन्धों में उनके जीवन दर्शन का सूक्ष्म विवेचन भी

मिल जाता है। आपकी भाषा में आलंकारिकता और मुहावरों तथा लोकोक्तियों का प्राचुर्य पाया जाता है। आपकी शैली अनूठी, भाव गम्भीर तथा भाषा सरल और सुगठित है।

यद्यपि कहीं कहीं मिश्रजी के लेखों में पुराने ढर्रे का पण्डिताऊपन अवश्य दृष्टिगत होता है, तथापि उनकी वर्णन शैली असाधारण और अद्भुत थी इससे कोई इन्कार नहीं कर सकता। आज भी उनके निबन्ध पढ़कर हमें उतना ही आनन्द मिलता है, जितना कि उत्कृष्ट से उत्कृष्ट साहित्यकार की कृति से। यही उनकी एकमात्र सफलता है। 'बात', 'वृद्ध', 'भौं', 'मरे को मारे शाह मदार' तथा 'धोखा' आदि निबन्ध उनकी शैली का पूर्ण प्रतिनिधित्व करते हैं। सारांशतः उन्होंने गम्भीर-से-गम्भीर और सरल-से-सरल विषय पर नितान्त सफलतापूर्वक लिखा है। यही उनके कृतित्व की विशेषता है।

३ : : आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी

आचार्य द्विवेदीजी हिन्दी के नये रूप के निर्माता और विधाता थे। उन्होंने हिन्दी में नवयुग का प्रारम्भ किया था। क्या गद्य और क्या पद्य, सभी दिशाओं में उनके कृतित्व की झलक हमें देखने को मिलती है। द्विवेदीजी ने न केवल हिन्दी के स्वरूप का निर्धारण और परिमार्जन किया, प्रत्युत् उन्होंने अद्भुत सहयोग और प्रेरक प्रोत्साहन द्वारा हिन्दी में अनेक लेखकों तथा कवियों का निर्माण किया। सारांशतः उनकी सेवाएँ किसी सीमा में अवरुद्ध करने की वस्तु नहीं, वह तो सर्वतोमुखी प्रतिभा लेकर आये थे।

भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्रजी ने जिस गद्य का प्रचलन किया था, उसका पोषण तथा परिवर्द्धन द्विवेदीजी ने ही किया था। आपने 'सरस्वती' के सम्पादन-काल में भाषा की अस्थिरता के विषय में अनेक लेखादि लिखकर जिस आन्दोलन का सूत्रपात किया था, उसने हिन्दी के लेखकों में व्याकरण-सम्मत भाषा के व्यवहार की प्रेरणा जगाई।

आपने अपने निबन्धों में जिस भाषा और शैली को अपनाया था उसे आचार्य रामचन्द्र शुक्ल '*बातों का संग्रह*' कहा करते थे। आपके निबन्धों की एकमात्र सफलता और विशेषता यही है कि उनकी भाषा ऐसी होती है कि गम्भीर-से-गम्भीर विषय को साधारण समझ का व्यक्ति सहज ही हृदयंगम कर लेता है।

द्विवेदीजी ने आलोचना के क्षेत्र में पर्याप्त देन दी। उन्होंने हिन्दी में आलोचना की जिस परिपाटी का आरम्भ किया था, वह उल्लेखनीय है। वह न केवल सफल सम्पादक, भाषा-निर्माता और मर्मज्ञ समालोचक ही थे, प्रत्युत् हिन्दी-साहित्य के विधाता और निर्माता थे। उनकी भाषा में जहाँ संस्कृत की कोमल-कान्त पदावली के दर्शन होते हैं, वहाँ उर्दू-फारसी के शब्दों का बाहुल्य भी होता है। हिन्दी भाषा और साहित्य के *उन्नयनकर्ताओं में उनका स्थान सर्वोपरि है।* उन्होंने 'सरस्वती' के सम्पादन-काल में सैकड़ों लेखकों और कवियों को प्रोत्साहन देकर हिन्दी-साहित्य के प्रचार और प्रसार में उल्लेखनीय सहायता की थी, इसीलिए समस्त हिन्दी-जगत् उनको 'आचार्य' के नाम से अभिहित करता है। 'कवि और कविता' उनका निबन्ध उनके आचार्यत्व का *प्रत्यक्ष प्रमाण है।*

४. श्री पद्मसिंह शर्मा

हिन्दी में तुलनात्मक समालोचना के जन्मदाता के रूप में श्री शर्माजी का नाम हिन्दी-साहित्य के इतिहास में सदा सर्वदा के लिए स्वर्णाक्षरों में अंकित है। '*बिहारी सतसई की भूमिका*' नामक *अपने ग्रन्थ के* कारण उन्हें जो ख्याति मिली, वह उनकी अपूर्व प्रतिभा और प्रकाण्ड पाण्डित्य की बोधक है। वह साहित्य के मर्मज्ञ और कला-पारखी थे। उनका संस्कृत, फारसी और उर्दू भाषा के साहित्यों का ज्ञान अपूर्व और प्रशंसनीय था, इसीलिए उनकी प्रायः सभी रचनाओं में उक्त भाषाओं के गहन ज्ञान की छाप स्पष्टत: दीखती है।

शर्माजी की भाषा में हिन्दी-उर्दू-मिश्रित शब्दों का प्रयोग अत्यन्त ही सुन्दर ढङ्ग से हुआ है। किस विषय को किस प्रकार की भाषा और शैली में प्रस्तुत किया जाए, इसका उन्हें भली भाँति ज्ञान था। उनकी भाषा में दुरूहता कहीं भी दिखाई नहीं देती। इसका एकमात्र कारण यह है कि उनकी भाषा सरल बोलचाल का आधार लेकर चलती है, जिसमें यथावश्यकता मुहावरों, उर्दू के उपयुक्त शब्दों तथा हास्य-व्यंग का प्रयोग प्रचुर मात्रा में हुआ है।

हिन्दी के प्राचीन कवियों में आप बिहारी को सर्वोत्कृष्ट कवि मानते थे, इसी कारण उन्होंने उनकी 'सतसई' पर 'सञ्जीवन भाष्य' नामक टीका-ग्रन्थ प्रकाशित किया, जिसके कारण समस्त हिन्दी-जगत् में भूकम्प-सा आ गया और बड़े-बड़े दिग्गज आलोचकों का आसन डोल उठा। आपने अपनी आलोचना में भाषा के गुण-दोष, रस, अलंकार आदि पर विशेष रूप से ध्यान दिया है।

हिन्दी-गद्य के निर्माताओं में आपका स्थान पर्याप्त महत्त्व रखता है। आपके गद्य में जो सजीवता और सप्राणता है, वह किसी दूसरे लेखक की कृति में अत्यन्त ही कठिनाई से मिलेगी। भाषा-सौष्ठव एवं सजीव वर्णन चातुरी के कारण वह एक नई शैली के स्रष्टा थे। व्रजभाषा के सम्बन्ध में शर्माजी के विचार अत्यन्त ही महत्त्वपूर्ण एवं मननीय हैं।

५. डॉक्टर श्यामसुन्दरदास

द्विवेदी-युग के प्रारम्भ में ही हिन्दी-गद्य में आलोचना का जो रूप था, उसे परिष्कृत करने में डॉक्टर श्यामसुन्दरदास का विशेष हाथ रहा है। उन्होंने अपने गम्भीर ज्ञान और अध्ययनशीलता के बल पर हिन्दी में साहित्यालोचन के सिद्धान्तों तथा भाषा-विज्ञान के मूल तत्त्वों पर प्रकाश डालने वाले अनेक ग्रन्थ हिन्दी-साहित्य को भेंट किये। नागरी प्रचारिणी सभा का सभापतित्व करके आपने इसके द्वारा वर्षों तक हिन्दी की जो सेवा की वह सदा स्मरणीय रहेगी। 'सरस्वती' के

सम्पादन का भार भी पहले-पहल आपने ही सँभाला था।

काशी विश्वविद्यालय के हिन्दी-विभाग के अध्यक्ष के रूप में आपने हिन्दी माध्यम से साहित्य की शिक्षा देने का जो अनवरत उद्योग किया था, वह किसीसे छिपा नहीं। विदेशी भाषा और विदेशी भावों को आत्मसात् करके हिन्दी के माध्यम द्वारा प्रकट करने के पक्ष में होते हुए भी उन्होंने जो कुछ भी लिखा वह प्रशंसनीय है। आपकी भाषा-शैली की सर्वप्रधान विशेषता यह है कि उसमें संस्कृत के तत्सम शब्दों का बाहुल्य होते हुए भी समासान्त पदावली का प्रयोग प्रायः बहुत कम हुआ है। आप उर्दू तथा फारसी के शब्दों का प्रयोग करने से प्रायः बचने का प्रयत्न करते थे। इस प्रकार भाषा के स्वरूप को परिष्कृत एवं प्रांजल करने के उद्देश्य से प्रेरित होकर आपने जो अथक परिश्रम किया वह प्रशंसनीय है।

यद्यपि आपका अधिकांश समय हिन्दी-प्रचार तथा अध्यापन-कार्य में व्यतीत हुआ था, तथापि समय निकालकर जो भी उन्होंने लिखा, वह साहित्य-निर्माण की दिशा का निर्देश करने में पर्याप्त सहायक हुआ है। आपने कुछ गम्भीर निबन्ध भी लिखे हैं, जिनकी भाषा सरस, शैली गम्भीर तथा उत्कृष्टता निस्संदिग्ध है।

सारांशतः द्विवेदीजी ने जिस सरल, भावपूर्ण शैली का प्रारम्भ किया था, उसका विकास आपकी रचनाओं में पूर्ण रूप से हुआ है। आपका विशाल तथा गम्भीर अध्ययन एवं मनन आपकी सभी कृतियों में परिलक्षित होता है। इस संकलन का लेख उनकी विवेचन-पटुता और अध्ययनशीलता का ज्वलन्त उदाहरण है।

६. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल

आचार्य शुक्ल का स्थान भी हिन्दी-साहित्य में गम्भीर विवेचक और चिन्तक के रूप में लिया जाता है। उन्होंने जो कुछ भी लिखा है, वह ऐसा नहीं कि जिसे कोई भी अनायास हृदयंगम कर सके। उनकी

शैली गम्भीर और विवेचना असाधारण होती है, जो साधारण कोटि के पाठक के लिए सर्वथा दुर्बोध और अगम्य है। इसका एकमात्र कारण यह है कि उन्होंने साहित्य में जिस प्रकार के निबन्ध और आलोचनाएँ लिखी हैं वे तो गम्भीर हैं ही, साथ ही उनके मनोवैज्ञानिक निबन्ध भी अत्यन्त गूढ़ शैली में लिखे गए हैं। उनकी चिन्तनधारा गम्भीर और अध्ययनमूलक होने के कारण संस्कृत गर्भित भाषा तथा शैली का आश्रय लेकर चलती है, इसलिए वह जनसाधारण को भारी पड़ती है।

कुछ आलोचकों की सम्मति में शुक्लजी के निबन्ध मनोवैज्ञानिक अधिक और साहित्यिक कम हैं, परन्तु वास्तव में ऐसी बात नहीं। उन्होंने समाजगत व्यावहारिक बातों का ध्यान रखते हुए ही इनकी विवेचना की है, इसी कारण उनके इस कोटि के निबन्ध विचारात्मक कहलाएँगे। साहित्यिक निबन्धों में सैद्धान्तिक आलोचना से सम्बन्धित कतिपय तथ्यों का उद्घाटन किया गया है।

शुक्लजी के निबन्धों में बुद्धि और हृदय का जैसा सामञ्जस्य है, वैसा अन्यत्र दुर्लभ है। उनकी निबन्ध-लेखन शैली सर्वथा वैयक्तिक विशेषताओं से युक्त है, वह डॉक्टर श्यामसुन्दरदास की भाँति निर्वैयक्तिक नहीं। हास्य व्यंग्य और विनोद का उनके निबन्धों में अत्यन्त संयम के साथ समावेश किया गया है। उत्कृष्ट निबन्ध की सम्पूर्ण विशेषताएँ उनकी कृतियों में विद्यमान हैं।

शुक्लजी की भाषा अत्यन्त परिष्कृत और प्रौढ़ है। शब्दों का गुम्फन आवश्यकतानुसार उर्दू तथा इंगलिश से भी किया गया है। उनकी भाषा का प्रत्येक वाक्य सुगठित और सुसम्बद्ध है। एक भी वाक्य उन्होंने ऐसा प्रयुक्त नहीं किया जिसका अस्तित्व उनकी कृति के समस्त सौन्दर्य को नष्ट कर दे। संस्कृत पदावली से अन्वित उनके वाक्य कहीं-कहीं तो गद्य गीत की रमणीय पंक्तियों के सदृश लगते हैं। आपके विचारात्मक निबन्धों की भाषा में तद्भव शब्द अधिक प्रयुक्त

लिये गए हैं और साहित्यिक निबन्धों की भाषा क्लिष्ट किन्तु प्रभावोत्पादक है, यहाँ तक कि बहुत से वाक्य तो सूक्तियों के समान अपनी स्वतन्त्र सत्ता रखते हैं।

इस संग्रह का 'उत्साह' शीर्षक निबन्ध उनकी मनोवैज्ञानिक विवेचना का प्रतीक है। मानव-मनोवृत्तियों का विश्लेषण करने में शुक्लजी की सशक्त लेखनी पूर्णतया सफल हुई है।

७ मुन्शी प्रेमचन्द

प्रेमचन्द का नाम हिन्दी साहित्य के निर्माताओं में स्वर्णाक्षरों में लिखा जाने योग्य है। उन्होंने अपनी कहानियों तथा उपन्यासों द्वारा देश की ग्रामीण तथा नागरिक सभी प्रकार की जनता के हृदय पर पूर्ण आधिपत्य स्थापित किया हुआ है। हिन्दी गद्य के विकास में जहाँ आचार्य द्विवेदी, डॉक्टर श्यामसुन्दरदास तथा शुक्लजी का नाम विशेष उल्लेखनीय है, वहाँ प्रेमचन्दजी की सेवाएँ भी कम नहीं।

यद्यपि उपन्यास तथा कहानी भारतेन्दु युग में ही लिखी जानी प्रारम्भ हो गई थीं, परन्तु उनको चरम विकास पर लाकर प्रेरणा प्रदान करने की क्षमता प्रेमचन्दजी ने ही प्रदान की। वह ही एकमात्र ऐसे सफल कलाकार थे, जिन्होंने विशुद्ध साहित्यिक, सामाजिक तथा मनोवैज्ञानिक पृष्ठभूमि पर आधारित अपने उपन्यासों का सृजन किया। यही नहीं, उन्होंने उपन्यासों के अतिरिक्त कहानी, नाटक तथा निबन्ध भी अत्यन्त उच्च कोटि के लिखे। यह बात विशेष रूप से उल्लेखनीय है कि प्रेमचन्द पहले उर्दू में लिखा करते थे, बाद में उन्होंने हिन्दी को अपनी साहित्य सेवा का माध्यम बनाया।

प्रेमचन्दजी ने अपनी प्रायः सभी कृतियों में भारत की गरीब, असहाय जनता के जीवन और दारिद्र्य का यथार्थ चित्रण किया है। उनकी रचनाओं की एकमात्र विशेषता यह है कि जो व्यक्ति समाज की निर्दयता तथा निर्ममता से आक्रान्त होकर अपने दुःख के शमन

का उपचार प्रेमचन्दजी की रचनाओं में खोजने का प्रयास करता है, वह उससे निराश नहीं होता। उसे उनकी कृतियों के प्रत्येक शब्द में अपनी ही वेदना तथा निराशा प्रतिच्छायित दृष्टिगत होती है।

प्रेमचन्दजी की शैली अत्यन्त सुन्दर, भाषा सरल और भाव मनोरंजक होते हैं। उन्होंने सर्वत्र अपनी भाषा में सरल-से-सरल शब्दों का प्रयोग किया है। उनकी कला में आदर्श और यथार्थ का सम्मिश्रण समान रूप से हुआ है, जो अत्यन्त ही महत्त्वपूर्ण है। दो शब्दों में, प्रेमचन्द भारत के दीन-हीन किसानों एवं मजदूरों तथा निम्न-मध्य वर्ग की जनता के सही प्रतिनिधि कलाकार कहे जा सकते हैं।

कहानी के विभिन्न तत्त्वों का निरूपण करके मुन्शीजी ने अपने लेख में उसकी उपयोगिता और लोकप्रियता पर भी पर्याप्त प्रकाश डाला है। कहानी का साहित्य में क्या स्थान है, यह उस धारा के उन्नायक की लेखनी से निःसृत इस लेख से भली भाँति स्पष्ट हो जाता है।

८ : : श्री जयशंकर 'प्रसाद'

'प्रसाद' जी हिन्दी में सर्वतोमुखी प्रतिभा लेकर आये थे। एक कुशल कवि होने के साथ-साथ आप अत्यन्त सफल नाटककार, उपन्यासकार तथा कहानी-लेखक भी थे। उनका भारतीय वाङ्मय का अध्ययन अत्यन्त गम्भीर था, अतः उनके साहित्य में भी वह गम्भीर ज्ञान प्रतिबिम्बित होना अनिवार्य ही था। आपकी शैली सर्वथा नूतन और स्वाभाविक थी। साहित्य के सभी अंगों की अभिवृद्धि में आपने योग दिया था। आपके साहित्यिक निबन्ध उच्चकोटि के होते हैं।

नाटकों के अतिरिक्त आपने अनेक सुन्दर काव्य, उपन्यास तथा कहानियाँ लिखी हैं। उनकी शैली भी शुद्ध भावावेश से आवेष्टित है, जिसमें मानव-अनुभूतियों का अंकन अत्यन्त सजीव भाषा में किया

गया है। आपने अपने उपन्यास में जिस निर्ममता से समाज से विकृत पक्ष का चित्रण किया है, वह उनकी सुधार-प्रियता का द्योतक है। प्रसादजी अपने नाटकों में कवि और दार्शनिक के रूप में अधिक उभर आए हैं। उनकी भाषा में यत्र-तत्र गद्य-काव्य का-सा आनन्द मिलता है। आपके नाटकों के अधिकांश पात्रों की उक्तियों में गहन दार्शनिकता की झलक दृष्टिगत होती है।

आपके समस्त साहित्य में प्रायः भारत के अतीत सांस्कृतिक गौरव की झाँकी प्रचुर मात्रा में देखने को मिलती है। गुप्तकालीन इतिहास को पृष्ठभूमि बनाकर आपने नाटकों की जो रचना की है, वह आपकी महत्त्व प्रतिभा और कला-क्षमता का सुन्दर उदाहरण है। आपका अध्ययन संस्कृत, बंगला, हिन्दी, अंग्रेजी आदि सभी भाषाओं में समान था। आपकी रचनाओं में उर्दू शब्दों का अभाव है तथा शैली शुद्ध संस्कृत शब्दों के अनुकूल है। वह न तो अधिक क्लिष्ट ही है और न अत्यन्त साधारण ही। यद्यपि 'प्रसाद' जी ने संस्कृत के तत्सम शब्दों का प्रयोग कम किया है, किन्तु आपकी भाषा गम्भीर, विशुद्ध और परिमार्जित है।

'प्रसाद' जी ने अपने इस लेख में भारतीय वाङ्मय में नाटकों की आरम्भिक दशा तथा उनके प्रचलन का विवेचन बड़ी ही सुबोध तथा ललित शैली में किया है। स्वयं कुशल नाटककार होने के कारण उन्होंने जो कुछ भी इस सम्बन्ध में लिखा है, वह आदरणीय है। उनके मत में रामायण, महाभारत, वैदिक और बौद्ध-युग में भी नाटकों का प्रचार और प्रसार पर्याप्त मात्रा में था। आपने अपनी भाषा में संस्कृत के तत्सम शब्दों का प्रयोग बहुलता से किया है, जिससे आपकी भाषा और शैली कुछ गम्भीर हो गई है।

६ श्री राय कृष्णदास

श्री राय कृष्णदास की गद्य-कृतियाँ भाव, अनुभूति तथा कल्पना से

ओत-प्रोत होती हैं। उनके भावों में जहाँ गाम्भीर्य है, वहाँ भाषा सरस, सरल और बोधगम्य है; उसमें क्लिष्टता या दुरूहता लेश-मात्र भी नहीं। आपकी कल्पना बहुत सजीव और सशक्त होती है। चित्र-मयी भाषा में अमूर्त भावनाओं को साकार और स्पष्ट कर देने की आपकी क्षमता अद्भुत है। प्राकृतिक सौन्दर्य के प्रति आपको विशेष अनुराग है। प्रसादजी की भाँति ही आपका भारतीय वाङ्मय का ज्ञान भी अत्यन्त विशाल है।

आप सुन्दर शैलीकार ही नहीं, प्रत्युत् एक कुशल कला-मर्मज्ञ भी हैं। कला के विभिन्न पक्षों का सर्वाङ्गीण विवेचन आपने अपने कला-सम्बन्धी ग्रन्थों में किया है, उससे आपके ज्ञान और गाम्भीर्य का पता चलता है। आपके गद्य-गीतों में आपकी इस कला-मर्मज्ञता का प्रस्फुटन स्थल-स्थल पर हुआ है, जिसमें प्रतीकात्मक शैली का आश्रय लेकर भावों की अभिव्यक्ति की गई है।

आपकी भाषा संस्कृत के तत्सम शब्दों के आधार पर गठित हुई है, जिसमें उर्दू के शब्दों और मुहावरों को भी उदारतापूर्वक ग्रहण किया गया है। प्रादेशिक शब्दों का प्रयोग भी आपने प्रचुरता से किया है। आपके गद्य की प्रमुख विशेषता यह होती है कि उसके वाक्य सरल और छोटे-छोटे पदों से सुगठित होते हैं, जिससे अभिप्रेत विषय की अभि-व्यंजना सुन्दर रूप से हो जाती है।

आप सर्वप्रथम गद्य काव्यकार के रूप में हिन्दी में आये और बाद में आपने कहानी तथा निबन्ध आदि भी प्रचुर मात्रा में लिखे। आपकी रचनाओं में चमत्कार और उन्माद के दर्शन स्थल-स्थल पर होते हैं। साधारण-से-साधारण बात को भी आलंकारिक आवरण में प्रस्तुत करने में ही आप अपनी कला की सार्थकता समझते हैं। आपकी शैली में अपूर्व आकर्षण और भाव-गाम्भीर्य होता है, जिसमें अनुभूतियों की मार्मिकता अपने नवीन रूप में व्यंजित होती है।

'कला और कृत्रिमता' लेख में उनकी उक्त शैली का प्रत्यक्ष परिचय

हमें मिलता है। साधारण-सी बात को उन्होंने कितने कलापूर्ण ढंग में अभिव्यक्त किया है, यह उनकी कला मर्मज्ञता का उत्कृष्टतम प्रमाण है।

१० . वियोगी हरि

श्री हरिजी का नाम खड़ी बोली हिन्दी गद्य के निर्माताओं और व्रजभाषा-काव्य के श्रेष्ठ कवियों में उच्चतम है। आपने जिस तन्मयता और लगन से व्रजभाषा-काव्य के क्षेत्र में अपनी अनुभूतियों का चित्रण करने के लिए 'वीर सतसई' का निर्माण किया और उसके द्वारा अत्यन्त प्रतिष्ठित स्थान प्राप्त किया, वह उल्लेखनीय है। आपके गद्य में भी पद्य के समान पाण्डित्य, गाम्भीर्य और गहन भावना प्रवणता के दर्शन होते हैं।

कवितामय गद्य लिखने में भी आपने अत्यन्त पटुता प्राप्त की हुई है। आपकी शैली में सहृदयता और भावुकता का अपूर्व सम्मिश्रण नितान्त स्वाभाविक ढंग से हुआ है। आपके गद्य गीत भावुकता, सरलता तथा अनुभूति की तीव्रता से पूर्ण होते हैं। आपकी भावुकता तथा मधुरता के दर्शन आपके प्राय सभी गीतों में होते हैं।

आपकी कृतियाँ प्राय दो विभिन्न शैलियों में अभिव्यक्त हुई हैं—एक में तो हृदय के भावों की सरलता के अनुरूप भाषा शैली भी सीधी-सादी, घरेलू और स्वाभाविक है, उसमें वाक्य छोटे छोटे हैं और शब्दों का सगठन सगत और उपयोगी है। दूसरी शैली में वक्रता है, उसमें अनुप्रास, समासयुक्त पदावली और अलकारों का बाहुल्य है। इसमें शब्दों का चुनाव भी बड़ा अटपटा-सा है। इसमें उर्दू, फारसी के शब्दों को संस्कृत के शब्दों के साथ प्रयुक्त किया गया है। आपने अपनी प्राय सभी रचनाओं में अनुभूति को सच्चा रूप देने का प्रयत्न किया है।

भाषा की दृष्टि से हरिजी की कृतियों में तत्सम शब्दों का प्राधान्य

अधिक हुआ है। उनकी सरलता उनकी कृतियों में सर्वात्मना प्रतिमूर्त हुई है। भक्ति-प्रदर्शन, शब्द-प्रेम और दीन-दुखियों की गहन सहानुभूति का भाव अंकित करने में उन्होंने अपनी कृतियों का गौरव बढ़ाया है।

'प्रेम और विरह' नामक लेख में हरिजी ने प्रेम के पोषक विभिन्न तत्त्वों का विश्लेषण करके प्रेम और विरह का भेद सिद्ध किया है। उनके इस लेख में साहित्य के इस तत्त्व का प्रामाणिक विवेचन आपको मिलेगा।

११ : : श्री पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी

श्री बख्शीजी का स्थान खड़ी बोली हिन्दी के निर्माताओं और उसका स्वरूप स्थिर करने वाले साहित्यकारों में अन्यतम है। अपने गम्भीर अध्ययन, स्वतन्त्र चिन्तन और निरपेक्ष द्रष्टा होने की भावना के कारण वह अपनी अधिकांश कृतियों में बोझिल हो गए हैं। 'सरस्वती' के सम्पादन काल में आपने हिन्दी-लेखकों को पहली बार विदेशी साहित्य की ओर आकृष्ट किया था। इतिहास, दर्शन, साहित्य तथा जीवनी आदि सभी उल्लेखनीय विषयों पर आपने लेखनी उठाई है। हिन्दी-आलोचना में तो आपने नवीन शैली और नये प्रयोग की सृष्टि की।

आप अध्ययनशील व्यक्ति हैं। यही कारण है कि समय के साथ बदलते हुए साहित्य के स्वरूप को अपने अन्दर उतारकर उसकी अभिवृद्धि के लिए उन्होंने विभिन्न शैलियों और आकारों में अपनी कृतियाँ दी हैं। आपकी कृतियों में भावों की गम्भीरता, भाषा की प्रांजलता और विचारों की नवीनता प्रायः सब स्थानों में परिलक्षित होती है।

शैली की दृष्टि से आपकी गद्य-कृतियों में सर्वथा नूतन और अभिनन्दनीय प्रयोग हुए हैं। गम्भीर-से-गम्भीर विषय को आधार-भूमि बनाकर उन्होंने उसका विवेचन सरल-से-सरल शब्दों में किया है। कहानी के आवरण में आप गहन-से-गहनतम सन्देश देने के पक्षपाती हैं।

बख्शीजी की भाषा सीधी-सादी और छोटे-छोटे वाक्यों से परिपूर्ण है। उसमें हिन्दी का चलता रूप हमें देखने को मिलता है। छोटे छोटे वाक्यों में बड़ी-से-बड़ी बात कहने की क्षमता उनकी भाषा की पकड़ के कारण ही है। वह ऐसे शब्दों और मुहावरों का प्रयोग अपनी कृतियों में करते हैं, जो स्वयं अपने भावों के प्रकटीकरण की सामर्थ्य आशा से अधिक रखते हैं। इससे लेखक को अधिक परिश्रम नहीं करना पड़ता।

कहानी के आवरण में अपना उद्दिष्ट व्यक्त करने की अद्‌भुत क्षमता जैसी बख्शीजी में है, वैसी दूसरे किसी लेखक में नहीं। इस संग्रह की कहानी में उन्होंने जिस बात का प्रतिपादन किया है, वह उनकी ऐसी ही शैली का द्योतक है। बख्शीजी ने गद्य में विभिन्न प्रयोग किये हैं। यह भी उनमें से एक है।

१२ : महाराजकुमार डॉक्टर रघुवीरसिंह

महाराजकुमार डॉक्टर रघुवीरसिंह ने हिन्दी-गद्य में अपनी नवीन शैली के प्रयोग के कारण प्रमुख स्थान बना लिया है। आपके गद्य में पद्य जैसा प्रवाह और ओज होता है। आपने अपनी कृतियों का आलम्बन मुख्यतः ऐतिहासिक घटनाओं को ही बनाया है। आपकी कृतियों में भावुकता और सहृदयता का समावेश प्रचुर मात्रा में हुआ है। इसी कारण आपके निबन्ध गद्य-गीत की कोटि ही में आते हैं। प्रभावोत्पादन की अद्‌भुत क्षमता होने के कारण आपने इतिहास की विलुप्त-प्राय घटनाओं तक का इतना सजीव वर्णन किया है कि वे पूर्णतया साकार हो उठी हैं।

अपने हृदय के उमड़ते हुए भावों को आप इतनी कलापूर्ण शैली में अभिव्यक्त करते हैं कि वे किसी भी प्रकार का परिश्रम नहीं चाहते, स्वतः ही पाठक के हृदय को वशीभूत कर लेते हैं। मानसिक उतार-चढ़ाव और हृदयगत अनुभूतियों की अभिव्यक्ति आपकी कृतियों में स्पष्टतः दिखाई देती है। सारांशतः आप प्रकृति-सौन्दर्य के अनुपम

चितेरे और मनुष्य की स्फुरणशील भावनाओं के चतुर शिल्पी हैं।

आपकी शैली कलापूर्ण और मादक होने के साथ-साथ भाषा में चंचलता, प्रवाह, माधुर्य तथा स्फूर्ति बहुत होती है। भाषा की अनुपम चित्रकारी द्वारा आपने हिन्दी-गद्य में नई शैली का सूत्रपात किया है, यह निर्विवाद सत्य है। भावना-प्रवण कल्पना के आधार पर किया गया ऐसा सुन्दर चित्रण अत्यन्त कठिनाई से ही देखने को मिलेगा।

'अतीत स्मृति' डॉक्टर रघुवीरसिंहजी की गद्य-शैली का ज्वलन्त प्रतीक है। इसमें उन्होंने प्राकृतिक सौंदर्य का वर्णन करने के साथ-साथ अपनी बात जिस कलात्मक ढंग से लिखी है, वह ही उनको सर्वश्रेष्ठ गद्य-काव्य-लेखकों में ला बिठाती है। उनके गद्य में पद्य जैसी माधुरी, शब्द-गुम्फन में मिसरी जैसा मिठास और कल्पना-प्रवणता में अमृत जैसा जीवन पग-पग पर निहित मिलता है। छोटी-सी बात को प्रतीक बनाकर अपना बड़े-से-बड़ा उद्देश्य प्रकट कर देने की अपूर्व क्षमता आपकी प्रतिभा का उज्ज्वल अवदान है।

१३ : आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी

श्री वाजपेयीजी हिन्दी के समीक्षकों में अग्रगण्य हैं। आपने अपनी अनेक समीक्षात्मक कृतियों द्वारा हिन्दी वाङ्मय का परिष्कार और प्रचार करने में जो योग दिया है, वह उल्लेखनीय है। आपने काशी-नागरी-प्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित 'सूर-सागर' का सम्पादन करके हिन्दी-साहित्य की उल्लेखनीय सेवा की है।

आपकी शैली अत्यन्त परिष्कृत और गम्भीरतापूर्ण होती है। साहित्य में विशुद्ध मनोवैज्ञानिक आधार पर आलोचना-साहित्य के परिवर्द्धन करने वाले महारथियों में आपकी देन विशेष रूप से स्मरण करने योग्य है। वाजपेयीजी ने अपने साहित्यिक जीवन का प्रारम्भ वैसे पत्रकारिता से किया था, किन्तु बाद में आप समीक्षा के क्षेत्र में ही रम गए और अपनी उत्कृष्टतम कृतियों द्वारा हिन्दी आलोचना-साहित्य

का भण्डार भरने में अब तक सतत प्रयत्नशील हैं।

आपकी भाषा संस्कृत गर्भित हिन्दी होती है, जिसमें संस्कृत के तत्सम शब्दों के साथ उर्दू के प्रचलित शब्दों का प्रयोग भी पर्याप्त मात्रा में होता है। आपकी शैली की विशेषता यही है कि आप जिस विषय की भी समीक्षा करते हैं, उसका पर्यालोचन इतनी सरल और स्पष्ट भाषा में होता है कि उसे साधारण-से-साधारण पाठक भी अनायास ही हृदयंगम कर लेते हैं।

हिन्दी समीक्षा के विकास और उसकी प्रमुख गतिविधियों के सम्बन्ध में उनकी अधिकृत लेखनी द्वारा लिखा गया यह लेख निश्चय ही छात्रों के ज्ञान-वर्द्धन में सहायक होगा।

१४ . आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी

आचार्य द्विवेदीजी आधुनिक हिन्दी-साहित्य के गम्भीर आलोचक तथा मौलिक चिन्तक हैं। आपकी कृतियों में सर्वत्र उसी चिन्तन का प्रतिबिम्ब दिखाई देता है। निबन्ध साहित्य के परिष्कार में आपका महत्त्वपूर्ण योग है। आपकी प्रायः सभी कृतियों में गम्भीर चिन्तन और शास्त्रीय विवेचन होता है।

संस्कृत-साहित्य का गहन अध्ययन होने के कारण आपकी प्रायः सभी रचनाएँ गम्भीर शैली और गहन अनुभूति से ओत प्रोत होती हैं। बहुत दिन तक विश्वभारती, शान्तिनिकेतन में रहने के कारण आपकी शैली में गुरुदेव टैगोर की छाप स्पष्ट दृष्टिगोचर होती है। आपकी शैली गवेषणात्मक होते हुए भी पूर्णतया मौलिक और अनूठी है।

भाषा के गठन और उसके स्वरूप निर्धारण के सम्बन्ध में द्विवेदी जी की अपनी मान्यताएँ हैं। उनकी भाषा परिमार्जित, सशक्त और संस्कृत-प्रधान होती है। यथावश्यकता उर्दू और अंग्रेजी के शब्दों का प्रयोग करने में भी वह नहीं झिझके हैं। संस्कृत वाङ्मय के गम्भीर